अञ्जलि

लेखक

बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख़्शी, बी० ए०,

बाबू हनुमन्तलाल बख़्शी

प्रकाशक

हरिदास एण्ड कम्पनी

मूल्य १)

(ललित कथाओं का संग्रह)

लेखक

बाबू पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी

बी० ए०

बाबू हनुमन्तलाल बख्शी ।

प्रकाशक

हरिदास एण्ड कम्पनी ।

कलकत्ता

२०१, हरिसन रोड के "नरसिंह प्रेस" में

बाबू रामप्रताप भार्गव द्वारा

मुद्रित ।

सन् १९२२

पहलीवार १००० }

श्रीमती सुभद्राबाई ।

समर्पण
श्रीमती
सुभद्रा बाई की
स्मृतिमें।
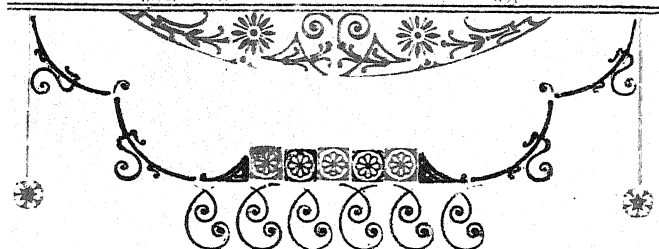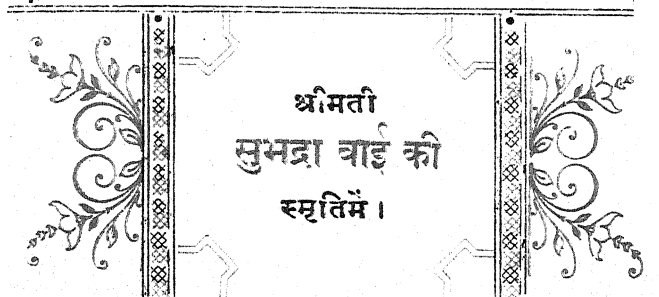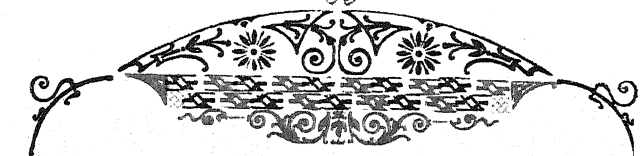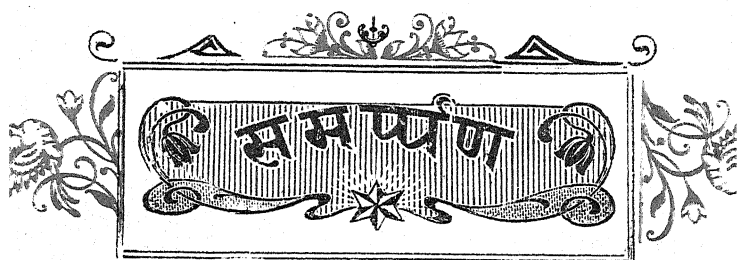
आओ, अंजलि दूँ तुम्हें आज।
क्षण भर में रवि होगया अस्त।
तम से भूमण्डल हुआ ग्रस्त।
तब मैं पूजा में हुआ व्यस्त।
सोचा अब तो होगा अकाज॥ आओ०॥

जीवन-पथ में था अन्धकार।
मंदिर तक जाऊँ किस प्रकार?
मैं खड़ा हुआ करता विचार।
आ गया वहाँ तब जनसमाज॥ आओ०॥
भय से मैं तो होगया चकित।
मेरे कर से तब हुआ स्खलित।

अञ्जलि ।

सब के चरणों से हुआ दलित ।
अब एक फूल है, उसे साज ॥ आओ० ॥
होगा क्या इससे तुम्हें तोष ?
होगा क्या मुझ पर, प्रभो ! रोष ?
यह है मेरा सब भाग्य-दोष ।
पर रखलो मेरी, नाथ ! लाज ।
आओ, अञ्जलि दूँ तुम्हें आज ॥

(१)

"रुस्तम !"

"जनाब !"

"क्या यह वही स्थान है ?"

"जी हाँ, यह वही गुर्ज्जर-प्रदेश है।"

"रुस्तम ! क्या सत्य ही यह गुर्ज्जर-प्रदेश है ? क्या हम लोगों ने इसी को ध्वंस करने का विचार किया है ? क्या इसी के लिये हमने यह छद्म वेश रचा है ? रुस्तम ! सच कहो, क्या यही-समुद्रमेखला, गिरि-किरीटिनी, गुर्ज्जर-भूमि है ?"

"हुज़ूर जो अनुमान करते हैं वह सत्य है। कृष्ण-वर्ण छाया के सदृश सन्मुख जो देख पड़ती है वही गुर्ज्जर की तट-भूमि है।"

"रुस्तम, इन पर्वत-श्रेणियों की शोभा तो देखो ; कितने

ऊँचे हैं ! जान पड़ता है कि गगन-नीलिमा को स्पर्श करने के लिये ये गर्व-भाव से इतने उन्नत हो गये हैं । कैसा अलौकिक सौन्दर्य है ! ऐसा दृश्य हमने अफ़ग़ानिस्थान में कभी नहीं देखा था। रुस्तम, यह स्वर्ग-भूमि तो नहीं है ? इसके मलय-प्रवाह में कैसी संजीविनी शक्ति है ! चन्द्रज्योत्स्ना कैसी उज्ज्वल और स्निग्ध है !"

सन्ध्या का समय है। गुर्ज्जर-तट की ओर एक नाव धीरे-धीरे जा रही है । माँझी हिन्दू हैं और आरोहीगण हिन्दू-वेशी मुसलमान । संख्या में वे लोग छः हैं । चार तो नाव के भीतर थे, और दो ऊपर बैठे कथोपकथन कर रहे थे। पाठकों ने अभी उन्हीं लोगों का वार्तालाप सुना है ।

जिस समय की कथा हम लिख रहे हैं उस समय ग़ज़नी-पति सुलतान महमूद भारतवर्ष पर आक्रमण पर आक्रमण कर रहा था। भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध नगरों का ध्वंस कर, इस बार उसने गुर्ज्जर पर कठोर दृष्टिपात किया था। गुर्ज्जर में सोमनाथ का प्रसिद्ध मन्दिर था। सुलतान उसी को हस्तगत करना चाहता था ; पर उसका लेना सहज नहीं था। उसके अधीश्वर थे, गुर्ज्जर देशाधिपति। महमूद ने सुना था कि गुर्ज्जर का अधिपति बड़ा पराक्रमी है । उनका सैन्यबल कितना है, यह जानने की इच्छा से सुलतान ने स्थल-पथ से तीन बार गुप्त-चर भेजे ; पर एक भी लौट कर न आया । उन लोगों का कुछ संवाद भी न मिला ।

इस बार महमूद ने अपने भ्रातृ-पुत्र, ग़ज़नी के भविष्य अधिकारी शाह जमालखाँ और प्रधान सेनापति रुस्तम को भेजा था। इनके साथ चार सैनिक भी आये थे। ये लोग स्थल-पथ से न आकर समुद्र-पथ से आये। रुस्तमखाँ ने अनेक बार सुलतान के साथ उत्तर-भारत में यात्रा की थी। वह अनेक भाषा जानता था, गुर्ज्जर-देश की भी भाषा से अनभिज्ञ न था। इससे यात्रा में इन लोगों को कष्ट न सहना पड़ा और न किसीने इन पर सन्देह ही किया। दो दिन समुद्र में बिता कर तीसरे दिन ये सोमनाथ-बन्दर पहुँच गये।

नाव खड़ी की गयी। सब उतरे। रुस्तम ने माँझियों को एक सुवर्ण-मुद्रा दी। वह मुद्रा गुजरात की ही थी, जो पहले से प्राप्त कर ली गयी थी। माँझीगण विदा हुए और ये लोग भी पाषाण-खण्डों पर बैठ कर विश्राम करने लगे।

समीप में ही सोमनाथ का मन्दिर था। उसके स्वर्ण-मंडित शिखर पर चन्द्र-रश्मि के पड़ने के कारण एक अपूर्व शोभा होती थी। वह शोभा अनिर्वचनीय थी।

क्रमश: सन्ध्या बढ़ने लगी। आरती का समय आया। भगवान् सोमनाथ की आरती होने लगी। दमामा और घंटों की ध्वनि मिल कर एक गम्भीर नाद उत्पन्न करती थी। वह नाद समुद्र के भीषण गर्जन से मिल कर आकाश-मण्डल को कँपा देता था। आरती हो जाने पर, वेद-पाठी ब्राह्मण सुमधुर स्वर से सोमनाथ की स्तुति करने लगे। निशा की निस्तब्धता

को भंग कर वह स्वर क्रमशः पवन में फैलने लगा। उस मधुर स्वर से चन्द्रालोक-प्लावित पृथ्वीतल पुलकायमान हो उठा।

शाह जमाल स्थिर दृष्टि से उधर ही देख रहा था। वह न जाने क्या सोचता था!

रुस्तम बोला, "हुज़ूर की क्या मरज़ी है? चलिये, किसी मुसाफिरखाने में चल कर ठहरें। हमें अपनी चिन्ता नहीं है; पर आपको कष्ट न हो। सुलतान ने हमें यही आज्ञा दी है।"

जमालखाँ ने विरक्त होकर कहा—"चुप, चुप, रुस्तम! सुलतान का नाम लेने की क्या ज़रूरत है? जानते नहीं हो, हम लोग कहाँ है?" रुस्तम चुप हो गया। भूल उसी की थी।

जमालखाँ ने कहा—"रुस्तम, कहीं जाने की आवश्यकता नहीं है। क्या नगर में इससे अच्छा स्थान मिलेगा? हम लोग यहीं विश्राम करेंगे। इधर देखो, क्या वे सब तारे हैं? अहो, क्या इस देश के तारों में इतना वर्ण-वैचित्र्य है? देखो तो सही, नीले, पीले, लाल और श्वेत तारागणों से, इस नभ-मण्डल की कैसी शोभा हो रही है!"

रुस्तम—"जनाब, आप भूल करते हैं। ये तारे नहीं, सोमनाथ के मन्दिर-शिखर में लगे हुए रत्न हैं।"

जमाल—हाँ, सोमनाथ का क्या इतना ऐश्वर्य!

रुस्तम—जनाब, सोमनाथ का ऐश्वर्य विश्व-विश्रुत है।

जमाल—जब बाहर इतना है तब भीतर न जाने कितना होगा! पर रुस्तम, सच कहो, ऐसा कभी तुमने कहीं देखा

भी था ? ऊपर आकाश में चन्द्र की निर्मल ज्योति, नीचे उसी विमल ज्योति से प्लावित मन्दिर-चूड़ा में स्थित रत्नों की ज्योति ! रुस्तम, क्या कहीं और भी ऐसा होगा ? मैं तो गुर्जर की यह नैसर्गिक शोभा देख कर मुग्ध हो गया ।

रुस्तम—जनाब, और कहीं आप ऐसा न देखियेगा । सुलतान इसीलिये तो इसे हस्तगत करना चाहते हैं और छद्म-वेश धारण कर हम लोगो के यहाँ आने का प्रयोजन भी यही है ।

जमालख़ाँ ने एक दीर्घ निःश्वास लेकर कहा—"रुस्तम, क्या कहते हो ? हम लोग इस सुन्दर देश को नष्ट करेंगे ? इस स्वर्णभूमि को ध्वंस करेंगे ? अग्नि-दाह कर इस नन्दन-कानन को भस्म करेंगे ? क्या ख़ुदा ने इसीलिये इसको इतनी शोभा-सम्पत्ति दी है ? क्या हम लोग इस शान्ति-मय देश को शोणित-मय करेंगे ? नहीं, नहीं । रुस्तम, ऐसा कभी नहीं होगा । हम ऐसा कदापि नहीं करेंगे ।"

रुस्तमख़ाँ घोर हिन्दू-द्वेषी, सुलतान का उपयुक्त सेनापति था । वह यह बात सुन नहीं सका । पर करता क्या ? धीरे से बोला—"आख़िर आपका मन्सूबा क्या है ?"

जमालख़ाँ—यह तो हमने पहले ही बतला दिया । रुस्तम, जिस विजय-वासना ने सुलतान के हृदय को पाषाण बना दिया है, जिसके कारण उन्हों ने भारत को आज ध्वंस कर डाला है, ख़ुदा की पवित्र-भूमि में रक्त-प्रवाह बहाया है, जिसके कारण भारत आज श्मशान हो गया है, वह दुर्दमनीय वासना हमारे

हृदय में नहीं है। मैं अफ़ग़ानिस्थान के पार्वत्य राज्य से ही सन्तुष्ट हूँ, मुझे यह ऐश्वर्य्य नहीं चाहिए। मैं सच कहता हूँ, मुझसे इस सौन्दर्य्य-शालिनी भूमि के सर्वनाश का कार्य्य नहीं बनेगा।

रुस्तम ने गम्भीर स्वर से कहा—"जनाब, आप कहते क्या हैं? आते समय सुलतान ने आपको यह तलवार दी थी, इसे स्पर्श कर आपने सुलतान की आज्ञा-पालन करने की प्रतिज्ञा की थी। क्या आप अपनी तलवार की गौरव-रक्षा नहीं करेंगे?"

जमाल—रुस्तम, स्वाधीन अफ़ग़ानिस्थान मेरी जन्म-भूमि है और मैं एक स्वाधीन नराधिप के क्रोड़ में आजन्म परि-पालित हुआ हूँ। वह स्वाधीनता मैं नहीं छोड़ सकता। सुलतान को मैंने अपनी देह बेच दी, पर अपने विवेक को नहीं बेचा है। इस देह पर सुलतान का पूरा अधिकार है, पर मेरा विवेक स्वाधीन है। उस पर सुलतान का कोई अधि-कार नही है। सुलतान चाहें तो अभी मैं उनके लिये प्राण दे दूँ और वे इस प्राण-विहीन देह को लेकर कुत्तों के सामने डाल दें, पर मैं अपने विवेक के विरुद्ध काम नहीं करूँगा। रुस्तम, तुम यह तलवार ले लो, इसे सुलतान के पैरों के नीचे डाल कर कहना कि जमाल अब अफ़ग़ानिस्थान को नहीं लौटेगा। वह अब स्वाधीन है। वे उस के अपराध की मार्जना करें; यही उसका अन्तिम अनुरोध है।

यह कहकर शाह जमाल ने रुस्तम की ओर देखा। रुस्तम

चुप था । जमाल ख़ाँने फिर कहना शुरू किया, "रुस्तम, चुप क्यों हो ? क्या तुम्हारे हृदय में पीड़ा नहीं होती ? तुम भी वीर-श्रेष्ठ, स्वाधीनता की गोदी में वर्द्धित, तेजस्वी अफ़ग़ान हो; हाय ! यह क्या करते हो ? रुस्तम ! उस दिन का स्मरण क्यों नहीं करते, जब तुमने अपने अपूर्व साहस से सुलतान की प्राण-रक्षा की थी और जब सुलतान ने कृतज्ञ होकर तुम्हें पुरस्कार देना चाहा था ? याद है, तब तुमने क्या कहा था ? 'जनाब, बन्दा आपकी प्रजा है । प्रजा का कर्तव्य है, राजा की रक्षा करना । पुरस्कार का कोई प्रयोजन नहीं ।' रुस्तम, तुम्हारा वह तेज कहाँ है ? तुम्हारा वह दर्प, वह साहस और वह वीरत्व अब कहाँ है ? आज तुच्छ धन और सम्मान के लोभ से रुस्तम ! वीर रुस्तम ! सुलतान के एक घृणित कार्य्य का समर्थन करता है ! एक दिन जो साहस दरिद्र रुस्तम ने दिखलाया था वह आज धनिक रुस्तम नहीं दिखला सकता !! हाय, हाय, रुस्तम, यह क्या करते हो ? ज़रा सोचो तो सही, तुम यह क्या करने चले हो ?" शाहज़ादा चुप हो गया । रुस्तम सोचने लगा शाहज़ादे का कहना सच है । सुल-तान सत्य ही अन्याय करते हैं । तब क्या रुस्तम सुलतान के विरुद्ध चलेगा ? उनकी आज्ञा भंग करेगा ? सावधान, रुस्तम ! सावधान ! शाह जमाल कुछ भी करें ; पर तुम सुलतान के विरुद्ध काम मत करना ; नहीं तो तुम्हारी हृदयेश्वरी, प्रिय-तमा, रुखिया बीबी और प्रिय पुत्र, जिन्हें तुम सुलतान के

महल में छोड़ आये हो, जल्लादों के हाथ पड़ेंगे। सुलतान उन लोगों को जीता न छोड़ेगा।

रुस्तम बोला—"तब आपकी इच्छा क्या है? हम लोग यहीं भिक्षा माँग कर जीवन व्यतीत करें अथवा गुप्तचर के हाथ पड़ कर प्राण खोवें?"

शाह जमाल—क्यों? भिक्षा क्यों मागेंगे? क्या गुर्ज्जर-देश-वासियों में दया और आतिथ्य-सत्कार का इतना अभाव है? विश्वास रक्खो, यदि हम लोग गुर्ज्जर-नृपति से अपना सारा हाल कह देंगे, तो वे हम लोगों का अनिष्ट नहीं करेंगे! सुनते हैं कि हिन्दू शरणागत शत्रुओं का वध नहीं करते। तब किसका भय?

रुस्तम और सह न सका वह उन्माद-वश भृकुटि भंग कर बोला—"शाहज़ादे, आप हमें क्षमा कीजिये। आप विश्वास-घातक के समान यह कह रहे हैं। हमसे यह न होगा।

विश्वास-घातक! शाहजमाल का शरीर जल उठा। रुस्तम की यह धृष्टता सह्य न हो सकी। तुरन्त तलवार खींच, व्याघ्र के समान भीषण गर्जना कर बोले—"शैतान, तेरी इतनी स्पर्द्धा! एक अन्याय के समर्थन न करने से हम विश्वास-घातक हो गये!"

चन्द्र के आलोक में जमालख़ाँ की तलवार चमक उठी। क्षण-भर में एक भयानक काण्ड हो जाता, परन्तु दैवेच्छा से वह रुक गयी। उसी समय पीछे से किसीने जमालख़ाँ का

हाथ पकड़ लिया। स्वतः शाहज़ादे ने पीछे फिर कर देखा। वह एक रमणी थी। शाहज़ादा विस्मय-विमुग्ध हो बोला—"तुम कौन हो? हमारे काम में विघ्न क्यों डाला?"

[२]

उस रमणी ने हँसकर तिरस्कार-व्यञ्जक स्वर से कहा "आत्म-विवाद कभी भी अच्छा नहीं होता। आप लोग क्यों विवाद करते थे?"

शाहजमाल ने ऐसा कंठ-स्वर कभी नहीं सुना था। वीणा-ध्वनि के समान वह स्वर अत्यन्त मधुर था। उत्तर देने के लिये वह कामिनी की ओर फिरा; पर उस रूप-राशि की ओर वह देखता ही रह गया। उत्तर न दे सका। उसने मन-ही-मन सोचा—"ऐसी अपूर्व रूप-राशि और फिर ऐसी अलौकिक शक्ति! निश्चय ही यह रमणी कोई देवी है। उस रमणी ने फिर कहा—"गुर्ज्जर की यह पवित्र-भूमि किसी विदेशी के रक्त से रञ्जित न हो, यही हमारी इच्छा थी और इसीलिये हमने तुम्हारे हाथ से तलवार ले ली।" शाहज़ादे ने चकित होकर पूछा—"यह तुमसे किसने कहा कि हम लोग विदेशी हैं?"

रमणी—तुम्हारे इस कार्य्य ने। गुर्ज्जरदेश के सम्पूर्ण अधिवासी, हज़ार कारण होने पर भी, अपने देश-बन्धु के शोणित से इस भूमि को कलङ्कित न करेंगे और तुम यही करने चले थे।

शाह—(उठ कर) रमणी! तुम कौन हो?

रमणी—मैं भगवान् सोमनाथ की दासी हूँ।

शाह—क्या तुमने हम लोगों की सब बातें सुन लीं?

रमणी—हाँ।

शाह—बताओ तो हम कौन हैं?

रमणी—आप गुर्ज्जर के घोर शत्रु हैं।

शाह—(हँस कर) रमणी, तुमने भूल की है, हम लोग काश्मीर के वणिक् हैं।

रमणी—नहीं साहब, मैं भूलती नहीं हूँ। आप सुलतान महमूद के भ्रातृ-पुत्र शाहज़ादे हैं और ये रुस्तम।

शाह जमाल चमक उठा। मुख मलीन हो गया। वह बोला—"रमणी, तुम्हारे साथ और कोई है?

रमणी—नहीं साहब, मैं अकेली हूँ।

शाह जमाल—तुम एक रूपवती रमणी हो। फिर भी अकेली ही फिरती हो!

रमणी—कुछ आश्चर्य्य की बात नहीं है। गुर्ज्जर स्वाधीन देश है। यहाँ हिन्दू बसते हैं। पर-स्त्री और पर-कन्या को सब भगिनीभाव से देखते हैं। साहब, इस देश में रमणी को विपद् की आशंका नहीं रहती।

शाह जमाल—समझ गया। पर हम तुम्हारा पूरा परिचय चाहते हैं।

रमणी—इससे अधिक मैं नहीं कह सकती।

शाह जमाल ने मन ही मन उस रमणी के साहस की बहुत प्रशंसा की; फिर कठोर स्वर से बोले—"रमणी, परिचय न देने से विपद् में पड़ेगी।"

रमणी—विपद् में कौन डालेगा?

शाह—हम और हमारे साथी।

रमणी—आप के और कितने साथी हैं?

शाह—चार।

रमणी—क्या वे भी आप के समान वीर हैं, क्या स्वाधीनता की लीला-भूमि अफ़ग़ानिस्थान के सब वीर रमणी पर अत्याचार करते हैं?

रुस्तम यह सह न सका। उसने तलवार खींचली। रमणी ने शीघ्रता से रुस्तम का हाथ पकड़ कर ऐसा झटका दिया कि, तलवार हाथ से छिटक कर दूर जा गिरी।

रुस्तम विस्मय-सहित बोल उठा—"मा, तुम कौन हो?"

रमणी ने हँस कर कहा—"मैं भगवान् सोमनाथ की दासी हूँ।"

रुस्तम—क्या गुर्ज्जर की सब रमणियाँ ऐसी ही शक्तिशालिनी हैं?

रमणी—जिस देश में स्वयं शक्ति के अवतार महा-काल भैरव सोमनाथ विराजते हैं, वहाँ की अधिकांश रमणियाँ ऐसी ही हैं।

इसी समय शाहज़ादे ने कहा—"रुस्तम, इस रमणी को

धन्यवाद दो। इसी के कारण आज यह पवित्र-भूमि हम लोगों के रुधिर-प्रवाह से कलङ्कित होने से बची। चलो, हम लोग अब लौटें। यह यात्रा निष्फल हुई।

रमणी ने पूँछा—"कहाँ जाइयेगा ?"

शाह जमाल—अधिकतर सिन्धुदेश।

रमणी—अभी आप को नाव कैसे मिलेगी ? फिर एक बात और है कि आप हमारे अतिथि हैं, बिना आतिथ्य स्वीकार किये आप जा कैसे सकते हैं ?

शाह—तब हम क्या करें ?

रमणी—आप को हमारे साथ चलना पड़ेगा। आप हमारे अतिथि हैं।

शाह—तुम्हारा विश्वास क्या ?

रमणी—विश्वास ! हमारा वचन।

शाह—यदि हम न जायें तो क्या करोगी ?

रमणी—आप को जाना ही पड़ेगा।

यह कह रमणी ने एक शंख निकाल कर फूँका। शंख-नाद के होते ही क्षण ही भर में वहाँ १०० शस्त्रधारी सैनिक आ पहुँचे। उनमें से एकने आगे बढ़ कर कहा—"मा, क्या आज्ञा है ?"

रमणी ने हँस कर कहा—"कुछ नहीं। योंही एक बार तुम्हें देखने की इच्छा हुई। अब तुम लोग जाओ।"

क्षण-भर में वे लोग जहाँ से आये थे वहीं चले गये।

शाह जमालने यह देख कर कहा—"अच्छा, हम चलते हैं पर एक बात की प्रतिज्ञा करो ।"

रमणी—किस बात की ?

शाह—दग़ा तो नहीं करोगी ?

रमणी—ना, भगवान् सोमनाथ हमें ऐसी मति न दें ।

शाह—और एक बात । हमारा परिचय किसी को न देना ।

रमणी—स्वीकार है ।

शाह—और कल सूर्योदय के पहले हमें विदा दे देना और एक नाव भी ठीक करना ।

रमणी—यह भी स्वीकार है ।

शाह जमाल ने रुस्तम की ओर देख कर कहा—"रुस्तम, उन लोगों को भी बुला लो ।"

रुस्तम ने एक सीटी बजायी, जिसे सुनते ही वे चारो सैनिक भी आ गये ।

रमणी आगे-आगे चलने लगी और वे लोग विस्मय-विमुग्ध होकर पीछे-पीछे जाने लगे ।

[३]

कुछ दूर चलने के बाद एक वृहत् अट्टालिका मिली । वहाँ १० शस्त्रधारी सैनिक इधर-उधर घूम रहे थे । रमणी ने शाह-ज़ादे की ओर देखकर कहा "महाशय ! आप यहाँ निश्शंक आइये । राजपूत अपने अतिथि का अनिष्ट कभी नहीं करते । वीर

शत्रु भी यदि अतिथि होकर आवे, तो वह हम लोगों का पूजनीय है।"

इसके बाद उसने एक सैनिक की ओर देखकर कहा—"भैरव, ये लोग हमारे अतिथि हैं। इनको विश्राम-स्थान बतलाओ।" भैरव ने आकर कहा—"चलिये महाशय।"

रमणी एक ओर चली गयी और शाह जमाल तथा उसके साथियों ने उस वृहद् अट्टालिका में प्रवेश किया। भैरव इनको एक सजे हुए कमरे में ले गया। वहाँ इनसे कहा—"यह कमरा आप के लिए है और यह दूसरा कमरा आप के भृत्यों के लिए।"

यह कह कर भैरव चला गया। शाह जमाल की आज्ञा पाकर वे चारों सैनिक भी दूसरे कमरे में चले गये। उस कमरे में केवल शाह जमाल और रुस्तम रह गये।

शाह जमाल ने कहा—"रुस्तम।"

रुस्तम—जनाब।

शाह—यह क्या व्यापार है? कुछ समझ में आता है?

रुस्तम—जनाब! कुछ नहीं।

शाह—इनका उद्देश क्या है? अतिथि बनाना या इसी मिस से बन्दी करना?

रुस्तम—बन्दी होने में अब क्या कसर है?

शाह—और यह रमणी कौन है?

रुस्तम—हुज़ूर, मैं कुछ नहीं कह सकता।

और कुछ बात नहीं हुई। इसी समय भैरव चार भृत्यों के साथ आ पहुँचा।

भैरव बोला—"हमारी माता जी का अनुरोध है कि अब आप लोग भोजन करें। यहाँ जो कुछ मिल सकता है वही आप के लिए लाया गया है। फल, कन्द-मूल और दुग्ध को छोड़ और कुछ नहीं है। कल प्रातःकाल माताजी से साक्षात् होगा।" भैरव चला गया और ये लोग भोजन कर सोने की चेष्टा करने लगे। शाहज़ादे को छोड़, घड़ी भर में सब घोर-निद्रा में अचेत हो गये।

शाहज़ादे को नींद नहीं आई। वह जागता ही रहा। आज तक शाहज़ादे के हृदय में किसी रमणी का चित्र अंकित नहीं हुआ था, पर उस गुर्ज्जर-रमणी के अपूर्व सौन्दर्य्य, अदम्य साहस और आतिथ्यसत्कार ने उसके हृदय पर एक बड़ा आघात कर दिया था। उस आघात के कारण उसका हृदय जल रहा था। शाहज़ादे को ज़रा भी शान्ति नहीं मिलती थी।

रात व्यतीत हो गयी। आकाश में प्रातःकाल की लालिमा फैलने लगी। रुस्तम भी सोकर उठा और चारो सैनिक भी। भैरव फिर आया। शाहज़ादे को प्रणाम कर बोला,—"रानीजी जानना चाहती हैं कि आप लोगों को कल कुछ कष्ट तो नहीं हुआ?"

शाह—रानीजी कौन? जिन्होंने हमें आश्रय दिया है?

भैरव—जी हाँ, जिनके आप अतिथि हैं।

शाह—वेही गुर्ज्जर की राजकन्या कमलावती हैं, जो कल हमारे साथ आयी थीं ?

भैरव—जी हाँ।

शाह—रानीजी को हमारी ओर से धन्यवाद देकर कहना, हम लोग उनके बड़े कृतज्ञ हैं। अब वे हमें विदा करें।

भैरव—आप लोग प्रातःकाल के कार्यों से यदि निवृत्त हो चुके हों, तो अभी प्रस्थान कीजिये। नाव तैयार है।

शाह—गुर्ज्जर के अतिथि आप की रानी के निकट और एक बात के प्रार्थी हैं।

भैरव—कहिये।

शाह—यही कि वे स्वयं आकर हमें विदा देवें।

भैरव—असम्भव, ऐसा कभी नहीं हो सकता।

शाह—क्यों ? कल तो वे हमारे साथ आई थीं !

भैरव—पर वह आना कर्तव्य के अनुरोध से था, आज कदापि नहीं आ सकतीं।

शाह—हम मुसलमान हैं। अपने आमंत्रित अतिथि को पूरे सम्मान-सहित विदा करते हैं। देखते हैं कि गुर्ज्जर की रानी शिष्टाचार की आदर्श नहीं हैं। वे अपने स्नेह अतिथि के अपमान करने में संकोच नहीं करतीं।

भैरव का मुख लाल हो गया। उसने तलवार पर हाथ रक्खा, इसी समय पीछे से किसी ने कहा, "सावधान ! भैरव ! सावधान ! अतिथि का अपमान मत करना।

भैरव ने चौंक कर पीछे देखा कि, स्वयं रानी कमलावती खड़ी हैं।

शाह जमाल ने देखा कि, इस बार कमलावती का मुख खुला नहीं है, वह अवगुण्ठन से आवृत है।

कमलावती ने शाहजमाल की ओर देखकर कहा—"जनाब! आप गुर्जर पर कलङ्क आरोपण करने के लिये उद्यत हो गये थे, इसीलिये मुझे आना पड़ा। यह ध्यान रखिये कि गुर्जर की रानी अपने अतिथि के साथ अशिष्ट व्यवहार नहीं करती।"

कमलावती यह कह कर चुप हो गई। शाह जमाल ने सिर नीचा कर लिया। कमलावती ने फिर गम्भीर स्वरसे कहा "जनाब, मैं अब अधिक समय तक नहीं ठहर सकती, क्योंकि पूजा का समय जा रहा है। यदि हमसे कुछ भूल हुई हो, तो उसे आप क्षमा करें; भूल सभी से हो जाती है। हाँ, यह भी कहे देती हूँ कि आप फिर कभी छद्म-वेश से गुर्जर-प्रदेश में न आइयेगा, नहीं तो आप विपद् में पड़ेंगे।"

कमलावती शीघ्रता से चली गई। जैसे विद्युत् चपलता से आकाश-मण्डल में प्रकट होकर फिर लुप्त हो जाती है, वैसे ही वह शीघ्रता से आई और शीघ्रता से ही चली गई। शाह जमाल देखता ही रह गया।

सेनापति रुस्तम ने कहा—"शाहज़ादे! अब आप वृथा विलम्ब क्यों करते हैं?"

शाहज़ादे ने एक दीर्घ निःश्वास परित्याग कर कहा—"रुस्तम, चलो, अब यहाँ ठहरने का काम नहीं है।"

सब लोग आगे बढ़े और भैरव भी उनके पीछे चला।

(४)

"मा, क्या यह काम अच्छा हुआ ?"

"इसमें बुरा क्या हुआ भैरव ?"

"मुसलमान हमारे शत्रु हैं। और फिर जो यहाँ आये थे, वे लोग हमारे घोर शत्रु हैं।"

"कुछ भी हो, पर थे तो हमारे अतिथि !"

"जान पड़ता है, गुर्ज्जर पर शीघ्र ही विपद् आवेगी।"

"यह कैसे जाना ?"

"उन लोगों की बात-चीत से मालूम हुआ।"

"कुछ चिन्ता की बात नहीं है। भैरव, तुम भय मत करो, गुर्ज्जरवासी निर्बल नहीं हैं। कुमार सिंह की शक्ति अभी क्षीण नहीं हुई। गुर्ज्जर का अभी कुछ भी अनिष्ट न होगा।"

पीछे से किसी ने कहा—"सत्य है कमला ! गुर्ज्जरवासी निर्बल नहीं हैं।"

कमलावती ने मुँह फेर कर देखा, तो कुमार पीछे खड़े हँस रहे हैं। भैरव कुमार को देखकर अन्यत्र चला गया। कमला ने चिन्तित स्वर से कहा—"कुमार ! हम लोगों पर विपद् आनेवाली है।"

कुमार बोले,—"विपद्! कमला, जब तक सुलतान मह-

मूद जीवित हैं तब तक विपद् का अभाव न रहेगा, पर यह ध्यान रक्खो, हम भी विपद् को ही खोजते रहते हैं।"

कमला ने कठोर दृष्टि-पातकर पूछा—"कैसे?"

कुमार—क्या यह नहीं जानती हो? स्मरण है, सोमनाथ के मन्दिर में आपने क्या प्रतिज्ञा की थी और क्या स्वीकार किया था? यदि विपद् न आवेगी, तो कुमारसिंह का बाहु-बल कैसे प्रकट होगा?

कमला गम्भीर होकर बोली,—"कुमार, यह समय सुख-कल्पना करने का नहीं है। गुर्ज्जर का सारा भार तुम पर है। पिता वृद्ध हैं। वे तुम पर विश्वास करते हैं।"

कुमार०—यह सब जानता हूँ। जीवन रहते मैं कर्त्तव्य से पराङ्मुख न हूँगा। तुम इसकी चिन्ता मत करो। पर मुझे एक बात की चिन्ता है।

कमला—कौन बात? मुझ से संकोच न करना।

कुमार—कमला, युद्ध में सब अनिश्चित रहता है। कौन जानता है कि क्या होगा? यदि कहीं मैं युद्ध में मारा जाऊँ?

कमला—कुमार, तो मैं स्वर्ग में जाकर तुम्हारे चरणों को चूमूँगी।

कुमार—कमला, मैं यही सुनना चाहता था। मुझे ऐसा जान पड़ता है कि तुम्हारे लिये ही नीच 'महमूद' गुर्ज्जर पर आक्रमण करेगा।

कमला—यह आपने कैसे जाना?

कुमार—सुलतान का भ्रातृपुत्र शाह जमाल तुम्हें देख कर उन्मत्तसा हो गया है। वही सेनापति होकर आवेगा, यह भैरव ने हमसे कहा है। वह उन लोगों के साथ बड़ी दूर तक गया था। उसने यह बात उन लोगों के मुख से सुनी है।

यह सुन कर कमलावती के हृदय में भय होने लगा। एक अनिष्ट की आशंका होने लगी। क्या उसके लिये उसकी जननी जन्मभूमि का सर्वनाश होगा? क्या उसीके लिये शाह जमाल गुर्ज्जर पर आक्रमण करेगा?

कुछ क्षण बाद कमलावती ने कहा—"कुमार, तुम इसका भय मत करो। मैं राजपूत की कन्या हूँ। मैं अपना धर्म भली-भाँति जानती हूँ। समय आने पर हम लोगों के लिये चिताग्नि चन्दन-प्रलेप के समान शीतल हो जाती है।"

कुमार के नेत्रों में जल भर आया। वे वहाँ से चले गये। कमलावती ने आकाश की ओर देख कर करुण-स्वर से कहा, "भगवन्, सोमनाथ! सहस्रों कमलावती चाहे कालके भीषण स्रोत में बह जायँ, पर देखना प्रभो, कुमार गुर्ज्जर की रक्षा भली-भाँति करें।"

(५)

सिन्धुदेश में समुद्र-तीर से दस कोस पर सुलतान महमूदने एक नगर बसाया था। वह अब भी महमूदाबाद के नाम से प्रसिद्ध है। भारत में राज्य-स्थापित करना, यह महमूद का आन्तरिक उद्देश्य न था और इसके लिये उसने प्रयत्न भी

नहीं किया। उसकी इच्छा थी—असंख्य रत्न-संग्रह करना। इसी इच्छा को पूरी करने के लिए महमूद ने भारत पर अनेक बार आक्रमण किया और दैवेच्छा से वह सदा सफल-मनोरथ ही होता रहा। उसकी राजधानी, ग़ज़नी, भारत-ऐश्वर्य से अलकापुरी के तुल्य हो गई, परन्तु महमूद सन्तुष्ट न हुआ।

सोमनाथ के ऐश्वर्य की कथा सुनकर उसने गुर्ज्जर पर भी धावा करने का निश्चय किया। परन्तु उसे सुयोग न मिलता था। उसने अनेक बार चेष्टा की, परन्तु कुछ कर न सका। इस बार उसने शाहज़ादा शाह जमाल और सेनापति रुस्तमको भेजा। हिन्दू वणिक् के वेश में उन लोगों ने गुर्ज्जरदेश में प्रवेश भी किया। इसके बाद जो कुछ हुआ वह पाठकगण जानते ही हैं।

राज-कन्या कमलावती के आदेश से भैरव उन लोगों को एक निरापद स्थान तक पहुँचा कर गुर्ज्जर को लौट आया। मार्गमें शाह जमाल और रुस्तम विदेशीभाषा में वार्तालाप करते थे। शाह जमाल ने कई बार कमलावती का नामोल्लेख किया। भैरव विदेशी नहीं जानता था, इससे कुछ समझ न सका; पर गुर्ज्जर की माता, प्रत्यक्ष देवी कमलावती का पवित्र नाम उन म्लेच्छों के मुख से सुनकर भैरव का सारा शरीर जलने लगा। एक बार उसके मन में आया कि नाव को समुद्र में डुबा दें, जिससे गुर्ज्जर के दो प्रबल शत्रुओं का नाश हो जाय; पर उसी समय कमलावती का अन्तिम वचन उसके ध्यानमें आ गया, "देखना

भैरव इन लोगों का कुछ भी अनिष्ट न हो। शत्रु होने पर भी ये लोग हमारे अतिथि हैं।" भैरव ने तुरन्त ही अपने हृदय की उत्तेजना को दबा लिया, पर इतना उसने समझ लिया कि गुर्ज्जर पर यवन लोग शीघ्र ही आक्रमण करेंगे; परन्तु इस बार सोमनाथ के विश्व-विश्रुत ऐश्वर्य के लिये नहीं, कमलावती के लिए। शाहज़ादा के हृदय में एक भीषण अग्नि धधक रही थी, उसीकी शान्ति के लिये वह किसी न किसी दिन गुर्ज्जर पर विपद् लावेगा।

(६)

महमूदाबाद आकर शाह जमाल ने सुना कि सुलतान महमूद आखेट के लिए निकले हैं। शाहज़ादा वहीं सुलतान की राह देखने लगा। रुस्तम भी उनके साथ ठहरा रहा।

यहाँ आकर रुस्तम ने देखा कि शाहज़ादा अब हमको प्रसन्न करने की चेष्टा में सदा लगा रहता है। चालाक रुस्तम समझ गया कि शाह जमाल क्यों खुशामद करता है। बात यह थी कि रुस्तम सुलतान का प्रधान सेनापति था। फिर उस पर सुलतान का पूर्ण विश्वास था। शाहज़ादे ने सोचा कि रुस्तम से विवाद करना अच्छा न हुआ। क्षण भर में उत्तेजना के वश उसने जो कुछ कह डाला था उसके लिए वह पश्चात्ताप करने लगा। फिर उन्हें भय था कि रुस्तम कहीं यह सब बात सुलतान से जाकर न कह दे। यही सब सोच-विचार कर शाह जमाल रुस्तम को खुशामद में लगा रहता था। रुस्तम

शाह जमाल पर आन्तरिक स्नेह रखता था। वह कभी नहीं चाहता था कि शाह का कुछ अनिष्ट हो।

सन्ध्या के समय एक निर्जन कमरे में बैठे शाह जमाल और रुस्तम वार्तालाप कर रहे हैं। शाह जमाल ने कहा—"रुस्तम साहब, आपने हमारी बे-अदबी तो माफ़ कर दी ?"

रुस्तम—जनाब का लड़कपन अभी नहीं गया है। इसी से उस दिन ऐसी बात हो गई; पर हमने मन में उसे कभी नहीं रक्खा। हुज़ूर, यह ध्यान रक्खें कि ऐसी छोटी-छोटी बातों पर रुस्तम कभी ध्यान नहीं देता।"

शाह—हमसे एक बात की प्रतिज्ञा करो।

रुस्तम—कहिए।

शाह—उस दिन की बात तो तुम सुलतान से कभी न कहोगे ?

रुस्तम—आज तक मैंने मिथ्या-भाषण नहीं किया है। आपके लिए मैं वह भी करूँगा। आप विश्वास करें, सुलतान को यह बात कभी न मालूम होगी।

शाह—रुस्तम, हमने भी दृढ़ निश्चय किया है कि हम सुलतान की आज्ञा अब कभी न भंग करेंगे।

रुस्तम—तो क्या आप गुर्जर पर उनके कहने से, आक्रमण करेंगे ?

शाह—ज़रूर।

रुस्तम—यह क्या ? शाहज़ादे, यह सब कमलावती के लिए तो नहीं है ?

शाह—वही बात है, रुस्तम,

रुस्तम—पर आप यह जान लें कि गुर्ज्जर को ध्वंस किये बिना आप कमलावती को नहीं पा सकते। जब तक गुर्ज्जर में एक भी राजपूत जीता रहेगा तब तक आप निरापद नहीं हो सकते।

शाह जमाल—हाँ, रुस्तम, अब की बार हम गुर्ज्जर को बिल्कुल ध्वंस कर डालेंगे, उसे एक बार ही श्मशान बना देंगे। जिस प्रदेश की प्राकृतिक शोभा ने कभी हमें मुग्ध कर लिया था उसी प्रदेश को,—तुम देख लेना,—हम प्रेत-भूमि बना कर छोड़ेंगे।

रुस्तम—कमलावती क्या इतनी सुन्दरी है ?

शाह जमाल—रुस्तम ! तुम उस रूप का मूल्य नहीं जानते।

रुस्तम कुछ कहना चाहता था कि सुलतान महमूद स्वयं आ पहुँचा। उन्हें देख कर शाह के चेहरे का रङ्ग उड़ गया। रुस्तम का भी हृदय काँप उठा। दोनों आसन-त्याग कर ससम्भ्रम उठ बैठे।

सुलतान ने गम्भीर स्वर से जमाल की ओर देखकर कहा, "जमाल, गुर्ज्जर का क्या संवाद है ?"

शाह जमाल—जहाँपनाह, संवाद शुभ है।

सुलतान—गुर्ज्जर-पति का सेना-बल कितना है ?

शाह जमाल—हम लोगों से बहुत कम !

सुलतान—गुर्ज्जर-विजय करने के लिए तुम्हें कितनी सेना चाहिए ?

शाह जमाल—दस हज़ार।

सुलतान—दस हज़ार! तुमको दस और रुस्तम को पाँच हज़ार देने से हमारा बाहु-बल शिथिल हो जायगा।

शाहजमाल—गुर्ज्जर की सेना खूब सुरक्षित है।

सुलतान—जानता हूँ, पर मुझे आश्चर्य है कि ग़ज़नी का भविष्य-अधिकारी अफ़ग़ान-सैनिक का बल नहीं जानता!

शाह जमाल के हृदय में यह बात तीर सी लगी। उसने तेज़ी से कहा—"जहाँपनाह, हम केवल पाँच हज़ार सेना लेकर युद्ध में जाने के लिए प्रस्तुत हैं। आपके आशीर्वाद से मैं इतनी ही सेना से गुर्ज्जर-विजय करूँगा। यदि नहीं, तो युद्ध में ही प्राण-त्याग करूँगा; लौटूँगा नहीं।" सुलतान शाह जमाल को पुत्र के समान चाहता था। यह बात सुन कर उसके नेत्रों में जल भर आया। उसने कहा—"जमाल! हम तुम्हें दस हज़ार सेना देंगे। पर तीन हज़ार रुस्तम के आधीन रहकर तुम्हारी पार्श्व-रक्षा करेगी। कल ही युद्ध-यात्रा करो। हाँ, एक बात और कहनी है, गुर्ज्जर-पति को बन्दी कर हमारे पास भेजना। यदि जीता हाथ न आवे, तो शिर काट कर भेजना।"

शाह—जहाँपनाह, मैं वैसा ही करूँगा।

सुलतान—हाँ, और एक बात।

शाह—आज्ञा।

सुलतान—हम सुनते हैं, गुर्ज्जर-राज-कन्या कमलावती अत्यन्त सुन्दरी है। हम उसे बेगम बनाना चाहते हैं। इसलिए तुम उसे सम्मान सहित-हमारे पास भेजना।

शाह जमाल के मस्तक पर सहसा वज्रपात हो गया। सारा संसार अंधकारमय बोध होने लगा, पर उपाय क्या था? कहना पड़ा—"बन्दा आपकी आज्ञा का पालन करेगा। आप निश्चिन्त रहें।"

सुलतान और कुछ न बोला, वहाँ से शीघ्र चला गया।

शाह जमालके हृदयाकाश में आशा का जो उज्ज्वल आलोक प्रकट हुआ था वह अन्धकारमय निराशा में परिणत हो गया। वह सुख का स्वप्न चला गया।

गुर्ज्जर-विजय करने का पहले जैसा उत्साह था, वैसा अब न रहा। शाह विषण्ण मुख से बोला,—"रुस्तम, युद्ध के लिए प्रस्तुत हो। खुदा को जो मंजूर है वही होगा।"

(७)

भैरव हाँफता-हाँफता कमलावती के कमरे के पास आकर विकृत स्वर से बोला—"मा, मा!"

कमलावती ने बाहर आकर कहा—"कौन है? भैरव! क्या बात है?"

भैरव ने कहा—"मा, सर्वनाश उपस्थित है!"

कमलावती ने डर कर पूछा—"क्यों, क्या हुआ?"

भैरव—"मुसलमानों की सेना गुर्ज्जर के समीप आ गई है।"

कमलावती—कितनी सेना ?

भैरव—प्रायः बीस हज़ार।

कमला—बी-स-ह-जा-र— ! ! !

भैरव—हाँ, मा, इससे अधिक होगी—कम नहीं।

कमला—गुर्ज्जर की रक्षा कैसे होगी ? भैरव, हमारी सेना दस हज़ार से अधिक नहीं है।

भैरव—"हाँ, मा, और—और तुम्हारी कैसे रक्षा होगी, मा ! "

कमलावती का मुख लाल हो गया, फिर तुरन्त ही वह लालिमा चली गई। कमला गम्भीर होकर बोली—"भैरव, हमारी कौन चिन्ता ? क्या तू भूल गया कि मैं राजपूत-कन्या हूँ। हम लोगों को मृत्यु से भय नहीं है। अपनी जन्म-भूमि की चिन्ता कर। पिता कहाँ हैं ?"

भैरव—" नगर के बाहर व्यूह-रचना कर रहे हैं। उनका कहना है कि वे सोमनाथ के चरणतल में रहकर युद्ध करेंगे। वे ही हमारी रक्षा करेंगे।" कमला कातर स्वर से बोल उठी,—"भगवान् सोमनाथ, क्या होगा ? क्या करोगे ? प्रभो !"

सहसा कुमारसिंह वहाँ युद्ध-वेश में आ पहुँचा। कमलावती कुमार का हाथ पकड़कर बोली, "कुमार अब क्या होगा ? कुमार उत्साह-पूर्ण स्वर से बोला—"किसीका भय नहीं है। कमला, स्वयं स्वयंभू हमारे पृष्ठ-पोषक हैं। जहाँ सोमनाथ

महाकाल के रूप में विराजमान हैं और जहाँ साक्षात् शक्ति-मयी देवी तुम हो, वहाँ कमला, हम लोगों को भय किस बात का है ? तुम हमें प्रसन्न मुख से विदा दो ।" कमला सजल नेत्रों से बोली—"कुमार, आज न जाने क्यों मेरा हृदय काँपता है ? न जाने क्यों अनिष्ट की आशंका होती है ? हाय ! इस सर्वनाश और अनर्थ की जड़ मैं ही हूँ । हाय ! मैंने क्यों शैतान जमाल को आश्रय दिया ?"

कुमार—कमला, यह विषाद करने का समय नहीं है। तुम राजपूत-कन्या हो। धैर्य धरो। मैं जाता हूँ, पर एक बात और कहनी है। मुसलमानों का कोई विश्वास नहीं। युद्ध में जय-पराजय दोनों मिलती हैं। कौन जानता है, कहीं हमारी पराजय हो और उन लोगों की जय। यदि कहीं ऐसा हो, तब तुम्हें आत्म-रक्षा के लिये समय न मिलेगा इस लिए यह मैं तुम्हें दिये जाता हूँ । विपद् पड़ने पर अपनी धर्म-रक्षा के लिये तुम इस विष का सदुपयोग करना। मेरी मृत्यु हो जाने और तुम्हारे पिता के स्वर्गगत होने पर, कमला ! तुम यह जान रक्खो, देवता भी तुम्हारी रक्षा न कर सकेंगे। उस समय यही विष तुम्हारी और तुम्हारे धर्म की रक्षा करेगा। जब तुम सुन लेना कि कुमार अब संसार में नहीं रहा तब तुम विष-पान कर अपनी पवित्र आत्मा की रक्षा करना।

यह कह कर कुमार ने कमलावती के हाथ में एक कागज की पुड़िया दे दी और फिर सजल नेत्रों से युद्ध-भूमि की ओर प्रस्थान

किया। भैरव दूसरे कमरे में था। कुमार को जाते देख कर वह भी उनके पीछे हो गया।

(८)

सन्ध्या हुई। गुर्ज्जर-सेना पठानों से पराजित हुई। सूर्य्य-देव गुर्ज्जर के पराजय का कलङ्क न सह क्रोध से लोहित वर्ण धारण कर आकाश-मण्डल में अदृश्य हो गये।

उस दिन भगवान् सोमनाथ के मन्दिर में आरती नहीं हुई। उस दिन देव-मन्दिर के घण्ट-निनाद और ब्राह्मणों के स्तोत्र-पाठ से आकाश नहीं गूँजा। दिगन्त मुखरित नहीं हुआ। उस दिन समुद्र-तरङ्ग घोर गर्जना नहीं करती थीं। उस दिन गुर्ज्जर की सौन्दर्य-शालिनी भूमि विभीषिका-मय श्मशान के समान हो गई थी।

भगवान् सोमनाथ श्मशान ही में रहते हैं, वही उनका निवासस्थान है। पर इस श्मशान में चिता-भस्म नहीं है। उसके स्थान में उनके एकान्त भक्त गुर्ज्जर-वासियों का हृदय शोणित बह रहा है।

क्रमशः रजनी गम्भीर होने लगी। अन्धकार बढ़ने लगा। कमलावती अपने पिता की मृत-देह के लिए चिता रच कर भैरव के साथ फिर युद्ध-भूमिमें आई। उस महा श्मशानमें वह प्रेतनी के समान घूम रही है। पीछे पीछे मशाल हाथ में लिए भैरव था। भैरव मृत-देहों के मुख के पास मशाल ले जाता था। फिर निराशापूर्ण स्वर से कहता था, "नहीं, ये कुमार नहीं

हैं।" वायु भी हताश होकर कहता था, "नहीं, नहीं, ये कुमार नहीं हैं।" उस श्मशानक्षेत्र में स्थित वृक्षों के पत्ते भी कहने लगते, "नहीं, ये कुमारसिंह नहीं हैं।" चन्द्र-हीन आकाश-मण्डल के तारे भी कह उठते थे "कुमारसिंह कहाँ हैं? उन्हें कहाँ खोजती हो? वे तो हमारे राज्यमें हैं।" कमलावती निराश होकर फिर दूसरी मृत देह की ओर जाती थी।

इसी समय उस अन्धकार-मय श्मशान-भूमि में दो मनुष्यों की आकृति दीख पड़ी। वे मूर्तिद्वय, भैरव और कमलावती के समीप आये। कमलावती ने उन दोनों को पहचान लिया और भैरव ने भी। उनमें से एक शाह जमाल था और दूसरा रुस्तम।

कमलावती ने तिरस्कार-पूर्ण स्वर से कहा, "शैतान, निराधम, तूने क्यों हमारा सर्वनाश किया? क्या हमारे आतिथ्य-सत्कार का यही पुरस्कार है?" शाह जमाल ने उस तिरस्कार का उत्तर न दिया। वह इस समय कमलावती की ओर स्थिर दृष्टि से देखता था। जिसके लिए आज उसने गुर्ज्जर को प्रेत-भूमि कर दी है, जिसके लिए आज उसने गुर्ज्जर की पवित्र भूमि में शोणित-प्रवाह बहाया है, उसे सामने खड़ी देख कर शाह जमाल उन्मत्त हो उठा। फिर विकृत स्वर से बोला, "कमला! तुम यहाँ क्यों घूम रही हो? यह हम अनुमान से कह सकते हैं कि कदाचित् तुम कुमारसिंह की मृत देह लेना चाहती हो। पर कुमार मरे नहीं हैं, आहत हैं और हमारे शिविर में बन्दी हैं। कमला, हम कृतघ्न नहीं हैं। यदि तुम

चाहो तो हम अभी उन्हें स्वाधीन कर दें। पर इसके लिए मैं तुम्हें लेना चाहता हूँ।" इसके बाद शाह जमाल उत्तेजित स्वर से कहने लगा, "कमला, सुलतान तुम्हें बेगम बनाना चाहते हैं और मैं तुम्हें अपनी हृदयेश्वरी, अपनी प्राणेश्वरी करना चाहता हूँ। मैं ग़ज़नी का भावी सुलतान हूँ। पर कमला, तुम्हारे लिए मैं वह राज्य छोड़े देता हूँ। मैं तुम्हें चाहता हूँ। मैंने निश्चय कर लिया है कि अब मैं अफ़ग़ानिस्थान न लौटूँगा। इसी देशमें एक कुटी बनाकर मैं तुम्हारे साथ सुख से रहूँगा। मुझे अब और कुछ नहीं चाहिए। कमला, प्राणेश्वरी कमला! एक बार कहो, तुम मेरी हो।" इतना कह कर शाह जमाल कमलावती को आलिङ्गन करने के लिए दौड़ा। एकाएक पीछे से एक बन्दूक की आवाज़ आयी। शाह जमाल आहत होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा। शीघ्र ही वह आघातकारी सब के सम्मुख आया। उसे देख रुस्तम के आश्चर्य की सीमा न रही, क्यों कि वह स्वयं सुलतान महमूद था।

भू-पतित शाहज़ादेकी ओर देख कर सुलतान बोला--"शैतान विश्वासघातक! नफर, क्या इसीलिए मैंने तुझ पर इतना विश्वा-स किया था? मैंने तुझे क्या नहीं दिया? और फिर तूने मेरे ही साथ दग़ा की। महमूदाबाद में मैंने छिप कर तेरी बातें सुन ली थीं। एक सैनिक के वेश में मैं तेरे पीछे-पीछे यहाँ तक आया, और यहाँ आज मैंने तुझे इस दग़ाबाज़ी के लिए पूरा पुरस्कार दे दिया।

यह कह कर सुलतान पीछे लौटा; देखा, वहाँ कमलावती और भैरव कोई नहीं हैं, रुस्तम खड़ा है। सुलतान ने पूछा "रुस्तम, ये दोनों कहाँ चले गये?"

रुस्तम ने कहा, "जहाँपनाह, मैं कह नहीं सकता, कहाँ गये! मैंने ख़याल नहीं किया।

सुलतान—"रुस्तम, तुम इस लाश को उठाकर मेरे पीछे-पीछे आओ।" रुस्तम शाह जमाल की लाश उठाकर सुलतान के पीछे-पीछे चला। शिविर में जाने से मालूम हुआ कि कुमारसिंह भी न जाने कैसे छूट कर निकल गये! सुलतान ने कहा, "रुस्तम, इस बार हम दुश्मनों को शिकस्त न कर सके। चलो, फिर कभी देखा जायगा।"

सुलतान महमूद के लौट जाने पर कुमार सिंह ने कमलावती का पाणिग्रहण किया। कमलावती के पिता की भी यही अन्तिम इच्छा थी। कुमारसिंह उनके बाद गुर्ज्जर के अधीश्वर हुए।*

---

*बंगला 'भारतवर्ष' में प्रकाशित एक ऐतिहासिक गल्प का सारांश।

इङ्गलैंड के समुद्र-तट पर एक गाँव में लारेन्स ली नाम का एक व्यक्ति रहता था। नन्दन-कानन में पारिजातकी तरह उसके केवल एक कन्या थी। कन्याका नाम था ऐनी। ऐनी के गृह के समीप ही एक किसान रहता था। उसका एक लड़का था। उसका नाम फ़िलिप था। इन लोगोंसे थोड़ी दूर एक सन्तान-हीन वृद्धके साथ एक अनाथ बालक रहता था। उसका नाम एनक आर्डन था। बाल्यकाल के निश्छल प्रेम ने ऐनी, फ़िलिप और आर्डन को एक ही सूत्र में बाँध दिया था। तीनों सदा एक साथ रहते थे। तीनों एक साथ खेलते थे। सन्ध्याकाल में प्रतिदिन फ़िलिप और आर्डन ऐनी के साथ नदी के तीर पर बालुका-गृह-निर्माण करने के लिए जाते थे। गृह निर्मित हो जाने पर कभी फ़ि-

लिप गृहस्थ बनता था और आर्डन अतिथि होकर आता था और कभी आर्डन ही गृहस्थ होकर फिलिप का आतिथ्य-सत्कार करता था। ऐनी दोनों की गृहिणी होती थी। कभी-कभी इसके लिये फिलिप और आर्डन में बड़ा झगड़ा होता था। आर्डन चाहता था कि ऐनी उसकी होकर रहे, किन्तु फिलिप की इच्छा थी, वह ऐनी को रक्खे। बालिका ऐनी झगड़ा मिटाने के लिए कहती थी—"मैं तुम दोनों की गृहणी होकर रहूँगी।" पर तोभी उन लोगों को शान्ति अथवा सन्तोष नहीं होता था। कभी फिलिप उदास हो जाता था और कभी आर्डन।

समय किसी की प्रतीक्षा नहीं करता है। उसकी गति सदा अविराम रहती है। क्रमशः इन तीनों का बाल्य-काल व्यतीत हो गया। बालिका ऐनी युवती कहने योग्य हो गई और फ़िलिप और आर्डन दोनों ने उसे अपना हृदय-दान कर दिया। ऐनी का प्रेम फ़िलिप पर था, इसमें उसे थोड़ा भी सन्देह नहीं होता था। पर आर्डन के लिए उसके हृदय में जो भाव था उसे वह स्वयं नहीं समझ सकती थी। जब फ़िलिप आता था तब वह उससे बात करने में सङ्कोच नहीं करती थी; पर जब आर्डन आता था तब वह न जाने कैसी हो जाती थी। आर्डन उससे अपने भविष्य की कथा कहता था। वह उसे सिर्फ सुनती रहती थी। शायद कुछ सोचती भी थी।

किसी दिन सन्ध्या के समय, जब सूर्य्य से विदा लेकर प्रकृति निःश्वास ले रही थी, फ़िलिप ऐनी के उद्यान की ओर गया। वहाँ उसने ऐनी और आर्डन को एक लता-कुंज में देखा। ऐनी के अधरों पर अर्द्धस्फुटित फूल पर मकरन्द की तरह-हास्यरेखा प्रकट हो रही थी, और आर्डन के मुख पर भी प्रसन्नता झलक रही थी। फ़िलिप इससे सब समझ गया। उसके हृदय में न जाने क्यों वेदना होने लगी। एक दीर्घ निःश्वास परित्याग कर वह लौट आया। कुछ दिनों के बाद ऐनी का आर्डन के साथ विवाह हो गया। दोनों सुख से रहने लगे। दो वर्ष के बाद उनके एक लड़की हुई। उसका नाम अनाबेल रखा गया। दम्पती के स्नेह-संश्रय होने से अनाबेल ने उनके दृढ़ प्रेम-बन्धन को दृढ़तर कर दिया। भगवान् की दया से कुछ वर्षों के बाद एक लड़का भी हुआ। दम्पति के सुख और स्नेह की सीमा न रही, पर उस दिन से आर्डन को चिन्ता होने लगी।

आर्डन एक नाविक का पुत्र था। समुद्र में यात्रा करना उसे खूब पसन्द था। विवाह के पहले किसी व्यापारी के जहाज़ में उसने कई वर्ष तक काम भी किया था, वह सोचने लगा कि यदि वह किसी जहाज़ में काम करके धन उपार्जन करे और किसी व्यवसाय में लग जाय, तो उसे अपनी सन्तानोंके भविष्य की कोई चिन्ता न रहेगी। उसने एक दिन ऐनी से अपना विचार कहा, पर ऐनी ने उसका विरोध किया;

तौभी उसने अपना विचार नहीं बदला। उसकी इच्छा थी कि वह अपने लड़के को ऐसी शिक्षा दे, जिससे उसे अपना जीवन-निर्वाह करने में कभी कष्ट न उठाना पड़े, पर इसके लिए सबसे पहले धन की आवश्यकता थी। इसका उपाय आर्डन के लिये केवल एक था—जहाज़ में नौकरी करना।

इसी समय वह व्यापारी, जिसके जहाज़ में आर्डन काम कर चुका था, उससे मिलने के लिए आया। उससे मालूम हुआ कि उसे एक आदमी की ज़रूरत है। यदि आर्डन विदेश जाने के लिए उद्यत हो तो उसे वह प्रसन्नता से जहाज़ में रख लेगा। आर्डन तो यह चाहता ही था। उसने तुरन्त इसे स्वीकार कर लिया। ऐनी ने बहुत कुछ कहा, पर उसकी एक भी न सुनी। अन्त में ऐनी को सहमत होना पड़ा। उसने अश्रु-पूर्ण नेत्रों से पति को विदा किया। जाते समय आर्डन ने अपने नव-जात शिशु को गोद में ले लिया और थोड़ी देर बाद उसे ऐनी के हाथों में दे दिया। उस समय उस के भी नेत्रों में जल भर आया और ऐनी तो रोने लगी। अन्तमें धैर्य्य धर कर उसने ऐनी से कहा, "ऐनी, हृदयेश्वरी ऐनी, धैर्य्य धरो। मैं तुमसे बहुत दिनों तक अलग नहीं रहूँगा। अधिक से अधिक दो वर्ष लगेंगे। दो वर्ष के बाद मैं फिर लौट आऊँगा। तब तक तुमको कुछ कष्ट सहना पड़ेगा, फिर हम लोगों के आनन्द की सीमा न रहेगी।" इतना कह कर आर्डन चला गया और ऐनी, जब तक वह दृष्टि-पथ से अतीत

न हुआ, उसकी ओर देखती रही। फिर धीरे-धीरे घर लौट आई। उस समय उसके हृदय में न जाने क्यों तरह-तरह की आशंकाएँ होती थीं।

एक वर्ष किसी तरह से कटा। दूसरा वर्ष भी बड़े कष्ट से व्यतीत हुआ। तीसरे वर्ष भर ऐनी की सतृष्ण-दृष्टि समुद्र की ओर लगी रही, पर आर्डन नहीं आया। ऐनी की उत्कण्ठा बढ़ने लगी। चौथा वर्ष भी निकल गया। आर्डन का कुछ समाचार न मिला। ऐनी को बहुत भय होने लगा।

उस समय ऐनी को एक और चिन्ता लगी। आर्डन ने जाते समय सिर्फ दो वर्ष के लिये प्रबन्ध कर दिया था। अब उसे खाने-पीने की भी तकलीफ़ होने लगी। उसे अपनी उतनी चिन्ता नहीं थी, पर उसके दोनों बच्चों की कैसी दशा होगी, इसका ख़याल करते ही उसका हृदय फटने लगता था। विपत्ति के समय कोई भी आश्रय नहीं देता। ऐनी जगदीश्वर से प्रार्थना करने लगी।

सन्ध्या के समय में ऐनी उदास होकर अपने कमरे में बैठी थी। अनाबेल और उसका छोटा भाई लारेन्स वहीं खेल रहे थे। उस समय फ़िलिप ने धीरे से कमरे में प्रवेश किया। फ़िलिप को देखकर ऐनी का दुःख और भी बढ़ गया। वह सिर नीचा कर रोने लगी। फ़िलिप का भी गला भर आया। उसने गद्गद् स्वर से कहा, "ऐनी, मैं जानता हूँ, तुम्हें इस समय कैसी वेदना हो रही है। मुझे तुम कुछ सहायता करने

दो । अपने दुःख में मुझे भी साथ कर लो । मुझे मालूम हैं, कुछ दिनो से तुम्हें खाने-पीने की तकलीफ़ हो रही है । यदि अपने लिए नहीं तो, इन बच्चों के लिए मुझे कुछ सहायता करने दो ।" फ़िलिप इतना कहकर चुप हो गया और ऐनी ने सजल नेत्रों से उसकी ओर देखकर कहा, "फ़िलिप, भगवान् तुम्हारा कल्याण करें । तुम ने आज मेरी और मेरे बच्चों की प्राण-रक्षा की है । मैं तुम्हारा उपकार कभी नहीं भूलूँगी ।"

फ़िलिप अब प्रति दिन आने लगा । उसने ऐनी के गृह का ऐसा प्रबन्ध कर दिया कि उसे कभी किसी बात का कष्ट नहीं होता था । अनाबिल और लारेन्स तो फ़िलिप को देखने के लिए प्रतिदिन उत्कण्ठित रहते थे । फ़िलिप भी इन पर ख़ूब स्नेह करता था । एक दिन सन्ध्या के समय फिलिप, ऐनी, अनाबिल और लारेन्स सब घूमने के लिए गये । गाँव के बाहर होते ही अनाबिल लारेन्स के साथ फूल तोड़ने के लिये इधर-उधर घूमने लगी और फ़िलिप ऐनी के साथ एक वृक्ष के नीचे खड़ा होकर उनकी क्रीड़ा देखने लगा । थोड़ी देर तक दोनों चुप रहे । अन्त में फ़िलिप ने कहा "ऐनी, आर्डन को गये आज ५ वर्ष हो गये । अभी तक कोई समाचार नहीं मिला है । मुझे ऐसा जान पड़ता है कि वह भी जहाज़ के टूट जाने पर डूब गया ; नहीं तो वह आज तक अवश्य लौट आता । ऐसी दशा में, ऐनी, क्या तुम मुझ पर दया करोगी ? मैं जानता हूँ कि मैं तुम्हारे योग्य नहीं हूँ, पर भगवान् जानते हैं, मेरे हृदय

में तुम्हारे प्रति कितना प्रेम है। अपने अन्त:करण में तुम्हारी मूर्ति को अंकित कर मैं आज तक उसकी उपासना करता आ रहा हूँ। क्या तुम मेरी उपासना को सफल न करोगी?" ऐनी का हृदय काँपने लगा। वह कहने लगी, "नहीं, नहीं, ऐसा मत कहो। आर्डन आवेगा, अवश्य आवेगा। पर मैं—हाय! मैं—कुछ कह नहीं सकती हूँ। फिलिप, इस वर्ष भर मुझे और प्रतीक्षा करने दो। केवल एक वर्ष।" फिलिप ने इसे भी स्वीकार कर लिया। देखते-देखते वह वर्ष भी व्यतीत हो गया। आर्डन नहीं आया। फिलिप ने आकर कहा "ऐनी, तुम्हारी प्रतिज्ञा के दिन पूरे हो गये। अब तुम क्या कहती हो?" ऐनी ने उत्तर दिया, "फिलिप! यद्यपि मैं बिलकुल निराश हो गई हूँ, तोभी मुझे कभी-कभी कुछ थोड़ीसी आशा होने लगती है। फिलिप, मुझे दो महीने का और समय दो।" फिलिप इसे स्वीकार कर चला गया।

फिलिप के चले जाने पर ऐनी ने बाइबिल खोल कर किसी पेज में हाथ रक्खा। जिन शब्दों पर उसका हाथ पड़ा उनका अर्थ "ताड़ वृक्ष के नीचे" था। ऐनी कुछ समझ न सकी और यही बात सोचते-सोचते उसे नींद आ गई। स्वप्न में उसने देखा कि, आर्डन किसी ताड़ वृक्ष के नीचे खड़ा है। चारों ओर केवल शान्ति है। पशु-पक्षियों का भी शब्द नहीं सुनाई पड़ता और आकाशमें सूर्य का प्रकाश फैला हुआ है। ऐनी जाग पड़ी। सोचने लगी। अन्त में स्थिर किया, "वह पृथ्वी लोक में नहीं है,

किसी दूसरे ही लोक में है। पर जहाँ है, वहाँ वह सुख और शान्ति से है। यदि ऐसा है, तो हम लोग विवाह क्यों न करें ?" इतना सोच कर उसने फ़िलिप को बुलाकर अपना विचार कह दिया और थोड़े ही दिनों में उनका विवाह हो गया। ऐनी अनावेल और लारेन्स को लेकर फ़िलिप के घर रहने लगी।

आर्डन का क्या हुआ ? वह कहाँ चला गया ? लौटा क्यों नहीं, उसका यह कारण है। आर्डन व्यापारी के साथ जहाज़ में अफ्रिका आया। वहाँ वह डेढ़ साल तक रहा। कुछ व्यवसाय करता रहा। इससे उसे लाभ भी ख़ूब हुआ। फिर वह स्वदेश लौटा, पर भाग्य के दोष से जहाज़ टूट जाने पर वह बचा भी तो ऐसी जगह में जाकर, जहाँ न तो कोई आदमी रहता था और न कभी कोई जहाज़ उधर से निकलता था। अकेला आर्डन उस निर्जन द्वीप में रहता था। प्रतिदिन प्रातःकाल से सायंकाल तक वह समुद्र की ओर देखता रहता था। रात में भी वह थोड़ी देर के लिये सोता था। किसी ऊँची जगह में उसने एक लाल झण्डा लगा रखा था, जिससे कोई उसे देख कर बचाने के लिये आवे। पर इतना करने पर भी कोई उधर से नहीं निकला। एक साल, दो साल, तीन साल, इसी तरह चार साल व्यतीत हो गये। तोभी आर्डन की आशा-लता नहीं मुरझाई। वह निराश नहीं हुआ। पाँचवें साल उसकी आशा पूरी हुई। उसने दूर से एक जहाज़ को उधर

को आते हुए देखा। हर्ष के मारे वह चिल्लाने लगा। आर्डन उस समय पशु की तरह हो गया था। चार वर्षों में उसके बाल भी खूब बढ़ गये थे। पहले थोड़ी देर तक वह जहाज़ वालों से बोल भी नहीं सका। फिर धीरे-धीरे वह सब कुछ बोलने और समझने लगा। तब जान पड़ा कि जहाज़ इङ्गलैण्ड का है और इङ्गलैण्ड ही लौटेगा। आर्डन भी उन लोगों के साथ आया। मार्ग में वह केवल ऐनी और अपने बच्चों का ख़याल करता रहा। उन लोगों की क्या दशा होगी? कैसे रहते होंगे? क्या खाते होंगे? ऐनी उसके विषय में क्या सोचती होगी? यही सब सोचते-सोचते आर्डन इङ्गलैण्ड पहुँचा। पहुँचते ही वह पहले अपने घर की ओर रवाना हुआ।

सबसे पहले उसने अपने गाँव के गिरजाघर के मीनार को देखा। फिर वह स्कूल, जहाँ उसने वर्णमाला सीखी थी। फिर टेम्स नदी, जहाँ बाल्य-काल में ऐनी फ़िलिप और आर्डन के साथ क्रीड़ा करती थी। फिर अहा! वह घर, आर्डन का, ऐनी का, अनावेल का और शिशु लारेन्स का! आर्डन दौड़ कर भीतर गया; पर वहाँ कोई नहीं था। मकान देखने से ऐसा जान पड़ता था कि महीनों से कोई वहाँ नहीं रहता है, आर्डन का सिर घूमने लगा। ऐनी कहाँ गई? उसके बच्चे कहाँ गये, वह कुछ स्थिर न कर सका। वहाँ से वह सराय में गया। देखा, सराय का मालिक वही जान है। पर जान उसे पहचान न सका। इसने भी अपरिचित की भाँति उससे एक कमरा

माँगा। खा-पी लेने पर फिर वह जान के पास आया और इधर-उधर की बातें करने लगा। फिर बातोंही बातों में उसने अपने घर की ओर अँगुली उठा कर पूछा "यह किसका घर है?" तब जान कहने लगा, "यह घर आर्डन का है। वह मेरा मित्र था। बेचारा, ६,७ वर्ष की बात है, अफ़्रिका गया था। लौटते समय जहाज़ डूब जाने से उसकी मृत्यु हो गई। अभी थोड़े दिन हुए उसकी स्त्री ने दूसरा विवाह कर लिया। जिससे विवाह हुआ है, उसका नाम है फ़िलिप। फ़िलिप खूब अच्छा आदमी है।"

आर्डन केवल सुनता रहा। जब जान चुप हो गया, तब वह अपने कमरे में लौट आया। "हे भगवन्, आर्डन जीवित है और ऐनी ने दूसरा विवाह कर लिया! आर्डन मर क्यों न गया?" अब उसे क्या करना चाहिए। यहाँ रहना उचित नहीं है। यदि किसी ने पहचान लिया, तो बड़ा सङ्कट होगा। अतएव उसे यहाँसे चलाही जाना चाहिए। पर जाने के पहले उसे ऐनी और अपने बच्चों को देखने की इच्छा हुई। वह चुप-चाप अपने कमरे से उठा और फ़िलिप के मकान की ओर रवाना हुआ।

मकान पर पहुँच कर वह चोरों की तरह भीतर घुस गया। वहाँ उसने देखा कि ऐनी फ़िलिपके साथ बाहर दालान में बैठी हुई कुछ कह रही थी। उसकी लड़की अनावेल फिलिप की कुर्सी पकड़ कर खड़ी थी और लारेन्स फिलिप की गोद में

बैठा था। आर्डन थोड़ी देर तक स्थिर दृष्टि से उन लोगों की ओर देखता रहा; फिर एक निःश्वास परित्याग कर वह लौटा, पर वह सराय की ओर नहीं गया। कहाँ गया, यह हम नहीं कह सकते क्योंकि फिर उसे किसीने नहीं देखा।*

---

* प्रसिद्ध टेनीसन के एक काव्य के आधार पर
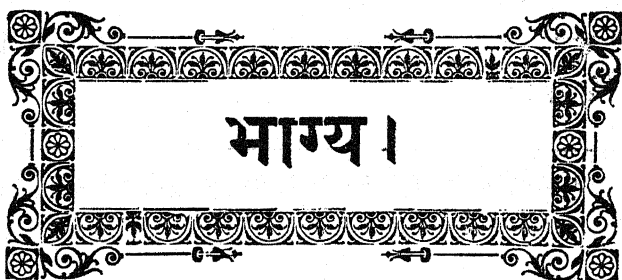
कहते हैं कि सदा किसी के दिन एक से नहीं जाते। जब विधाता प्रतिकूल होता है, तब विपत्ति पर विपत्ति आती है। तब न जाने कितना कष्ट सहना पड़ता है। सारा संसार मुँह फेर लेता है, कोई आश्रय भी नहीं देता। अभागे का धैर्य छुट जाता है। किंकर्त्तव्य-विमूढ़ होकर वह निश्चेष्ट बैठा रहता है। अन्त में, हताश हो बेचारा सदा के लिये दुःख-सागर में निमग्न हो जाता है; परन्तु जब भाग्योदय होता है, जब विधाता अनुकूल होता है, तब विपत्ति के घोर तिमिर में कहीं से एक अपूर्व प्रकाश आने लगता है। क्रमशः सारी विपत्ति चली जाती है और सुख के दिन आ जाते हैं।

विपिनकिशोर अपने को भाग्यशाली समझते थे। कष्ट और क्लेश को जानते भी नहीं थे। संसार से वे निरे अनभिज्ञ

थे। घर में सुख-सम्पदा सभी थी। समय आनन्द से व्यतीत होता था। सारा संसार उनके अलौकिक गान से मुग्ध था। सभी उनकी प्रशंसा किया करते थे। लक्ष्मी चञ्चल है, इसका उन्हें स्वप्न में भी विश्वास नहीं था।

इधर पिता का स्वर्गवास हुआ, उधर विपिनकिशोर का सौभाग्यसूर्य्य सदा के लिये अस्त हुआ। वह सुखका संसार न जाने कहाँ विलीन होगया। देखते-देखते धन, जन, दास-दासी, बन्धु, बान्धव, कहीं के कहीं चले गये। अब विपिनकिशोर को कोई पूछता भी नहीं। सारे संसार के प्रशंसापात्र, विपिन को अब आश्रयदाता नहीं मिलते। इस विस्तीर्ण संसार में विपिन अकेले हैं, निःस्सहाय हैं। विपिन के नेत्रों में जल भर आया, उन्हें मालूम हुआ कि संसार दुःखमय है, अन्धकार-मय है।

इसी समय मनोरञ्जन बाबू को गवर्नमेंट ने कोर्ट आफ् वार्ड्स की अधीनतासे मुक्त कर दिया। अब वे स्वतंत्र होगये। नाट्यशाला स्थापित करने की उन्हें प्रबल आकांक्षा थी। स्वाधीन होते ही उन्होंने नाट्य-शाला स्थापित की। इसी समय उनकी दृष्टि विपिनकिशोर पर पड़ी। विपिनकिशोर की अलौकिक सङ्गीत-कलासे परम मुग्ध होकर मनोरञ्जन बाबू ने उन्हें आश्रय दिया। अब विपिन बाबू इनके कृपापात्र होगये।

मनोरञ्जन बाबू शिक्षित थे। वे कलकत्ता विश्वविद्या-लय के बी० ए० थे। वे अपना सारा काम बड़ी सावधानी से

करते थे। खाना, पीना, उठना, बैठना इत्यादि सब समय पर होते थे। वे अपना समय कभी व्यर्थ बातों में नहीं लगाते थे। सारी प्रजा उनसे प्रसन्न थी, परन्तु जब से विपिन बाबू से उनका परिचय हुआ तब से वे अपना सब काम नियत समय पर नहीं कर सकते थे। रातको बड़ी देर तक वे विपिन बाबू से अपनी नाट्यशाला के विषय में बातचीत किया करते थे। दिन प्रतिदिन विपिन पर उनका स्नेह बढ़ने लगा, धीरे-धीरे उन्होंने अपना काम-काज करना छोड़ दिया। सिवाय संगीत के उन्हें कोई भी बात अच्छी नहीं लगती थी।

एक दिन रानी वसन्तकुमारीने मनोरञ्जनबाबू से विपिनकी बड़ी निन्दा की; कहा कि "विपिनबाबूके सदृश नीच मनुष्योंके साथ रहना क्या उचित है? ऐसों से घृणा करनी चाहिए न कि स्नेह। विपिन में ऐसा कौनसा गुण है जिससे उसका इतना मान? उसपर इतना स्नेह?" मनोरञ्जन बाबू हँसने लगे। रानी को क्रुद्ध देख वे बहुत प्रसन्न हुए; ज्यों-ज्यों रानी क्रुद्ध होती थी, त्यों-त्यों मनोरञ्जन बाबू विपिनकिशोर की प्रशंसा कर-कर हँसते जाते थे। अन्त में उन्होंने कहा कि "विपिन बाबूका मान न करना, मानो संगीत-शास्त्रका अनादर करना है, उनकी प्रशंसा न करना, मानो संगीतशास्त्र की अप्रशंसा करना है। विपिन बाबू में यह अलौकिक गुण है।"

रानी बसन्तकुमारी की घृणा विपिन बाबू पर बढ़ती गई। इधर मनोरञ्जन बाबू का स्नेह बढ़ता गया। एक बार बिहारी ने

रानी का काम नहीं किया। रानी के क्रुद्ध होने पर उसने साफ़-साफ़ कह दिया कि ज़मींदार बाबू की आज्ञा से उसे दिन भर विपिन बाबू का काम करना पड़ता है। रानी औरभी क्रुद्ध हुईं। क्या विपिन बाबू कहीं के नवाब हैं जो हाथ से अपना काम नहीं कर सकते? बिहारी तो यही चाहता था। उसने उस दिन से विपिन बाबू का काम करना बन्द कर दिया। तबसे विपिनकिशोर को सारा काम अपने हाथ से करना पड़ता था। इससे उन्हें कष्ट होता था, पर ज़मींदार बाबू से बिहारी के विरुद्ध एक शब्द भी नहीं कहा।

इसी समय मनोरञ्जन बाबू के जन्मदिवस के हर्ष में "सुभद्रा हरण" नाटक करने का विचार किया गया। नाट्यशाला में सब उपस्थित हुए। नाटक खेला गया। विपिनकिशोर अर्ज्जुन बने और मनोरञ्जन बाबू कृष्ण। विपिनकिशोर की नाट्यकला से सब प्रसन्न हो गये, सब के सब एक स्वर से प्रशंसा करने लगे—रानी बसन्तकुमारी भी अब विपिन बाबू को स्नेहदृष्टि से देखने लगीं। नाटक समाप्त हुआ। मनोरञ्जन बाबू रानी के पास गये। रानी ने विपिनकिशोर की बड़ी प्रशंसा की। तब मनोरञ्जन बाबू ने पूछा "और मैंने कैसा किया?" "उँह, आप की बात ही दूसरी है" कह कर रानी ने बात टाल दी, और फिर विपिन बाबू की प्रशंसा करने लगीं।

मनोरञ्जन बाबू सोचने लगे, "विपिन किशोर की व्यर्थ ही लोग प्रशंसा करते हैं, आख़िर उसमें कौनसा अलौकिक गुण है।

जो लोग उसकी प्रशंसा करते हैं वे सब मूर्ख हैं। दो घड़ी पहले मनोरञ्जन बाबू स्वयं उन मूर्खों में से एक थे; पर अब एकदम उनके विचार में परिवर्तन हो गया। उनका वह स्नेह चला गया। अब वे विपिन को घृणा-दृष्टि से देखने लगे।

इधर विपिन बाबू पर अब रानी का स्नेह बढ़ने लगा। बिहारी पुन: उनका सब काम करने लगा। एक बार रानी ने मनोरञ्जन बाबू से कहा कि, विपिन बाबू कुलीन वंश के हैं। क्या हुआ जो उनकी दशा अब अच्छी नहीं है। ग्राम के साधारण लोगों के साथ उनका रहना उचित नहीं है। उनके रहने का अलग प्रबन्ध होना चाहिए। मनोरञ्जन बाबू कुछ न बोले।

उस दिन से मनोरञ्जन बाबू अपना सारा कार्य्य स्वयं देखने लगे। नाट्यशाला की ओर उन्होंने फिर कभी ध्यान नहीं दिया। अब वे अपना समय व्यर्थ बातों में नहीं लगाते थे।

एक बार मनोरञ्जन बाबू के काम में बिहारी ने असावधानी की। ज़मींदार बाबू उस पर बड़े क्रुद्ध हुए। बिहारी ने तुरन्त ही उत्तर दिया कि उसे रानी की आज्ञा से दिन भर विपिन बाबू का काम करना पड़ता है। मनोरञ्जन बाबू ने अत्यन्त रोष से कहा, "उनके काम करने की कोई आवश्यकता नहीं है।" बिहारी ने पुन: काम करना बन्द कर दिया।

कुछ दिन के बाद, मनोरञ्जन बाबू ने नाट्यशाला तोड़ दी, संगीतशास्त्र की तुच्छ-तुच्छ बातों में समय व्यतीत करना वे मूर्खता समझने लगे। अब विपिन बाबू की कोई आवश्यकता

न रही। इस से उन्होंने उन्हें वेतन देना भी बन्द कर दिया। विपिन बाबू ने दीर्घ निःश्वास लेकर वहाँ से प्रस्थान किया। अपने भाग्यको दोष दे, वे वहाँ से चले गये। कहाँ गये, यह कोई नहीं जानता। उन्हें फिर किसी ने नहीं देखा।
"हतविधि लसितानां हि विचित्रो विपाकः।
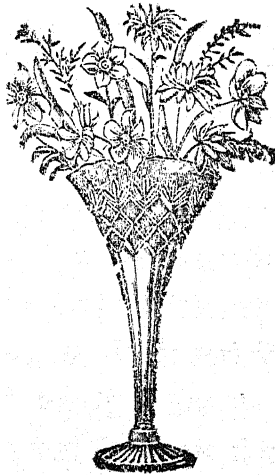
वर-लाभ

यह अपर लोक की कथा है। उससे इस लोक का कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। वह यहाँ से अत्यन्त दूर है; अनन्त आकाश के किसी नक्षत्र-मंडल में वह स्थित है। वहाँ किसी रमणी के साथ एक पुरुष रहता था। एक डाली में दो फूलों के समान वे दोनों रहा करते थे। उनमें कभी विच्छेद-वियोग नहीं हुआ था। वहाँ एक विस्तृत एवं सघन वन था। सब वृक्ष परस्पर ऐसे मिल गये थे कि उनके बीच थोड़ा भी अन्तर नहीं था, पर वृक्षों में ही यह निविड़-भाव न था उस वन में जो कुछ थे, सब ऐसे ही मिल गये थे। फूल-फूल में, फल-फल में और पत्तों-पत्तों में भी विच्छेद नहीं था। जल पवन और प्रकाश भी वन के उस सुदृढ़ मिलन को भंग कर प्रवेश करने का पथ नहीं पाते थे।

उस वन के बीच एक मन्दिर था। वह कब से था,

यह कोई नहीं जानता। मन्दिर में कुछ नहीं था। रात को देवता उसमें आया करते थे। सुनते हैं कि उस समय, घोर रात्रि के अन्धकार में किसी को साथ में न लेकर यदि कोई मन्दिर में जाकर देवता की आराधना करे और उसे अपने हृदय का रक्त अर्पण करे तो उसकी प्रार्थना अवश्य सफल होती है!

पुरुष और रमणी अनेक बार उस मन्दिर में गये थे, अनेक बार दोनों ने देवता की प्रार्थना की थी; पर अकेला कोई नहीं गया था। किसी पूर्णिमा की रात्रि में, पुरुष को साथ में न लेकर, रमणी अकेली ही मन्दिर की ओर गई। वन के बाहर चन्द्रमा के प्रकाश में सारा संसार हँस सा रहा था। जल, स्थल, आकाश, सब उज्ज्वल थे। सब में केवल शुभ्रता थी। आकाश में नीलिमा नहीं थी। समुद्र में नीलिमा नहीं थी। सब आलोक-मय था। केवल वन के भीतर घोर अन्धकार था। उस स्थान में ज्योत्स्ना नहीं थी। प्रकाश नहीं था।

रमणी उस घोर अन्धकार में मन्दिर के पास आई और भक्ति-भाव से देवता को प्रणाम कर प्रार्थना करने लगी; समय व्यतीत होने लगा। रात बढ़ने लगी, पर कुछ न हुआ। अन्त में रमणी ने अपने मर्म-स्थल में आघात किया। धीरे-धीरे रक्त बिन्दु-बिन्दु होकर हृदय से बाहर निकल मन्दिर की सीढ़ियों पर गिरने लगा। इस बार शब्द हुआ, "क्या चाहती हो?" रमणी ने कहा, "एक पुरुष है। वह मुझे संसार में सबसे अधिक प्रिय है। आप उसे वर दें।" शब्द हुआ,

"कैसा वर ?" रमणी ने उत्तर दिया, "यह तो मैं नहीं जानती, प्रभो ! पर जिससे उसका सब प्रकार से मंगल हो वह वर दीजिए ।" शब्द हुआ, "तथास्तु ।"

चिरकाल की आकांक्षा सफल होने के कारण उसके आनन्द की सीमा न रही । इतने आनन्दका उसने अपने जीवनमें कभी उपभोग नहीं किया था । उस आनन्द का भाग पुरुष को देने के लिए वह अधीर हो उठी । धीरे-धीरे न चल वह उत्कण्ठा से दौड़ने भी लगी । स्थिर वन उसके द्रुतपाद-क्षेप से काँप उठा । स्तब्धता भंग कर शुष्क पत्रों से मर्मर-ध्वनि निकली । अन्धकार में उस शब्द को सुनकर रमणी, न जाने क्यों, चकित और भीत होगई ।

शीघ्र ही वह वन के बाहर आई । बाहर अन्धकार नहीं था । बाहर चन्द्र-ज्योत्स्ना क्रीड़ा कर रही थी । वसंत-काल की पवन बह रही थी । फूलों की सुगन्धि से सब दिशाएँ पूर्ण थीं । दूर में समुद्र-तीर के बालुका के कण ज्योत्स्ना के आलोक में, आकाश के नक्षत्रों के समान, चमक रहे थे ! समुद्र-तरङ्ग भी अपने अविराम नृत्य में रत थी । आकाश में, पवन में, स्थल पर, सर्वत्र आनन्द की ध्वनि उठने लगी ।

रमणी शीघ्रता से चली जारही थी । उसकी दृष्टि एक बार समुद्र की ओर गई और वह ठहर गई । उसने देखा कि एक नाव समुद्र- तरङ्गों को भंग करती हुई चली जारही है । रमणी सोचने लगी, "इतनी रात को देश छोड़ कर कौन जा रहा

है ?" वह उत्सुकता से देखने लगी। प्रकाश मन्द होने के कारण यद्यपि वह पहचाना नहीं जा सकता था तथापि रमणी ने शीघ्र ही जान लिया कि वह कौन है। वह मूर्ति उसके हृदय-पटल में अंकित थी। वह उसका चिर-परिचित पुरुष था।

नाव धीरे-धीरे दूर होती जा रही थी। इसी समय रमणी ने यह क्या देखा ? देखा कि, उस नाव में एक परम सुन्दरी बालिका पुरुष के साथ बैठी हुई है। उसका सुन्दर मुख चन्द्रमा के प्रकाश में अत्यन्त सुन्दर जान पड़ता था।

रमणी का हृदय चंचल हो उठा। वह पागल के समान दौड़ी। वह नाव को ज़रूर रोक लेगी, पुरुष को जाने न देगी ! किन्तु सामने समुद्र था, उसकी भीषण तरङ्गों को भेदना असाध्य था। हताश होकर रमणी रोने लगी। अब वह क्या करेगी ? रमणी व्याकुल होकर बारम्बार कहने लगी—"लौट आओ, बन्धु ! लौट आओ।"

अन्त में, दूसरा उपाय न देख कर रमणी समुद्र में कूद पड़ी। तरंग-प्राचीर को भेद कर वह आगे बढ़ना चाहती थी कि किसी ने उसके कान में कहा, "यह क्या करती हो ? तुम यह क्या करती हो ?" रमणी ने गद्-गद् कंठ से कहा, "मैं इसके लिये अपने हृदय का रक्त देकर देवता से वर-भिक्षा माँग लाई हूँ।" अलक्षित स्वर ने कहा, "अच्छा तो है ; वर वह पा भी तो गया।"

रमणी ने पूछा "कौन सा वर ?"

अलक्षित स्वर ने कहा "उसका सर्वाङ्गीन मंगल, तुमसे उसका अनन्त विच्छेद !"

रमणी स्तम्भित हो गई ।

फिर शब्द हुआ, "क्यों, तुम सुखी तो हो ?"

रमणी ने धीरे-धीरे कहा, "हाँ, सुखी ।"

चारों ओर फिर निस्तब्धता फैल गई; सिर्फ समुद्र का चंचल जल रमणी के दोनों चरणों को घेर कर 'छल्-छल्' करने लगा ।*

---

* एक अंग्रेजी आख्यायिका का अनुवाद ।

नन्दिनी

जातिमें अहीर होने पर भी गाँवमें गोविन्दकी बड़ी प्रतिष्ठा थी। उसकी सुजनता देखकर सब लोग उसका आदर करते थे। प्राय: देखा जाता है कि थोड़ा भी धन हो जाने पर नीच लोगोंको बड़ा अभिमान हो जाता है। पर गोविन्द ने कभी अपने धन का दर्प नहीं किया। वह सदा सब लोगों से कहा करता—"यह आपही की दया-दृष्टि है जो मैं आज कुछ कमा-खाने लगा हूँ।"

गोविन्द के एक ही लड़का था। उसका नाम था मोहन। उसका स्वभाव कुछ विचित्र था। वह किसी के साथ कभी नहीं रहता था। उसे एकान्तवास ही प्रिय था। अपनी ही अवस्था वाले लड़कों के साथ खेलने में उसे भय होता था। यदि कोई उससे कुछ पूछता तो वह घबरा कर कुछ का कुछ कह जाता। उसकी यह दशा देख कर सब हँसते थे। पर

वह यह निरादर चुपचाप सह लेता था। गोविन्द को अपने पुत्रके विषय में बड़ी चिन्ता थी। वह चाहता था कि मोहन भी उसकी तरह पढ़-लिख कर चार लोगोंमें प्रतिष्ठित हो जाय। उसने इसके लिए बड़ी चेष्टा की। पण्डितजी को तो—जो अहीर के लड़के को पढ़ाने में अपनी मानहानि समझते थे—किसी प्रकार उसने अपनी ओर कर लिया। पर मोहनके भाग्य में विद्या थी ही नहीं। पण्डितजी की हृदय-ग्राहिणी शिक्षा से भी वह कुछ लाभ न उठा सका। हिन्दी शिक्षावली को समाप्त करके ज्योंही उसने रघुवंश और कौमुदी के पृष्ठों पर दृष्टिपात किया त्योंही उसका साहस छूट गया। पण्डितजी ने अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया, पर हुआ कुछ नहीं। अन्त में उन्होंने एक दिन गोविन्द से आकर कह दिया कि वे अब मोहन को न पढ़ा सकेंगे।

गोविन्द निराश होकर मोहन को घर का उद्यम सिखाने लगा। पर इसमें भी उसका मनोरथ सफल न हुआ। प्रातः-काल उठकर मोहन अपनी वंशी लेकर किसी निर्जनस्थान को चला जाता और वृक्ष के ऊपर चढ़ कर स्वर और लयका बिना विचार किये ही अपनी वंशी की विचित्र ध्वनि से प्रकृति को मुग्ध करने की चेष्टा करता। हम नहीं कह सकते कि प्रकृति इस धृष्ट गायक के अनर्गल संगीत से सन्तुष्ट होती थी कि नहीं, परन्तु इसमें कुछ सन्देह नहीं कि वह प्रति दिन मोहन को अपनी प्रतिध्वनि के द्वारा शिक्षा देती थी। अपने गुरु और

पिता के प्रयासों को विफल करके मोहन प्रकृति से शिक्षा लेने लगा। कुछ दिनों के बाद गोविन्दकी मृत्यु हो गई। मोहनको कुछ ज्ञान तो था ही नहीं, विधवा माता पर ही घरका भार पड़ा। कुछ लोगों से सहायता लेकर वह सब काम करने लगी। उसने भी कई बार मोहन को काम सीखने के लिये कहा, पर मोहन ने सदा यही उत्तर दिया—"माँ, मैं तो निर्बुद्धि हूँ, मैं क्या सीखूँगा?" फिर वैसा ही समय व्यतीत होने लगा। मोहन की दिन-चर्य्या में कुछ भी फेर-फार न हुआ। प्रातःकाल से सायंकाल तक प्रकृति की सङ्गीत शिक्षा होने लगी।

एक दिन मोहन की मौसी अपनी बहन को देखने के लिये आई। बहनने उससे अपने पुत्रकी कथा कही। मौसीने दीर्घनिःश्वास लेकर कहा—"क्या करोगी, बहिन! जो भाग्यमें लिख गया है वह अवश्य होगा।" थोड़ी देरमें मोहन आया। तब उसे बुलाकर उसकी मौसी कहने लगी—"बेटा! मेरे एक गाय है, उसे देखने वाला कोई नहीं। तुम घरका काम तो करते ही नहीं, चलो उसी को लाकर सेवा किया करो।"

मोहन ने स्वीकार कर लिया। दूसरे ही दिन मौसीके घर जा कर वह गाय ले आया। मोहनने अपनी गायका नाम रक्खा नंदिनी। उसने अपने पण्डितजी से सुन लिया था कि वशिष्ठ की धेनु का नाम नंदिनी था। दिलीप के सदृश वह भी नंदिनी के साथ रहने लगा। जहाँ वह जाती थी, जाता था।

उसकी गति में कभी बाधा नहीं डालता था। नंदिनी से उस का प्रेम इतना बढ़ गया कि वह क्षण भर भी उसके बिना नहीं रह सकता था। अब वह जड़ प्रकृति को अपनी वंशी की ध्वनि नहीं सुनाता था, उसकी वंशी पर अब केवल नन्दिनी का अधिकार था। नहीं मालूम, उसकी इस निष्काम सेवा की ओर नंदनी की कैसी दृष्टि थी।

एक बार जब वह सो रहा था, नंदिनी (कदाचित् उसके प्रेम की परीक्षा करने के लिए) न जाने कहाँ चली गई। मोहन को बड़ी चिन्ता हुई। वह दिन भर ढूँढ़ता रहा, पर नंदिनी का पता न लगा। सन्ध्या-समय वह उदास होकर घर लौटा। माता ने पूँछा, "नंदिनी कहाँ है?" माता के कोप से बचने के लिए उसने कह दिया—"उसे मौसी के घर छोड़ आया हूँ।" माता चुप हो रही, पर मोहन से रात को भी न रहा गया। माता से कुछ बहाना करके वह घर से निकल पड़ा। रात भर खोजता रहा, अंत में उसका परिश्रम सफल हुआ। रायबाबू के उद्यान में एक कदम्ब-वृक्ष के नीचे नंदिनी निश्शङ्क बैठी मिली। मोहन तुरत ही उसके गले से लिपट गया और रोकर कहने लगा, "नन्दिनी, बनकर रहो मेरे हृदय की वन्दिनी।" कहने की आवश्यकता नहीं, यह उसकी पद्य रचना थी, जिसका उसे बड़ा अभिमान था।

अब नन्दिनी प्रति दिन रायबाबू के उद्यान में जाने लगी। वह सदा उसी कदम्ब के नीचे जाकर बैठती, मोहन भी उसके

साथ जाता और कदम्बकी एक शाखा पर बैठा रहता था। वह कदम्ब रायबाबू की अट्टालिका से लगा हुआ था। जहाँ मोहन बैठता था उसके सामने एक खिड़की थी; वह सदा बन्द रहती थी।

एक दिन मध्याह्न-कालमें, जब सूर्य्यकी प्रखर ज्वालासे संतप्त होकर प्रकृति निश्चेष्ट सी हो रही थी, मोहन निश्चिन्त होकर कदम्बकी शाखा पर बैठा हुआ गा रहा था—"नन्दिनी बनकर रहो मेरे हृदय की वन्दनी।" इतने में उसने देखा कि नन्दिनी उठकर कहीं जारही है; तब उसे न जाने क्या हुआ, वह ज़ोरसे पुकारने लगा, "नन्दिनी, नन्दिनी।"

सहसा सामने वाली खिड़की खुली और एक रमणी ने अपना मुँह बाहर निकाल कर उससे पूँछा—"क्यों, मुझे क्यों पुकारते हो?" मोहनने विस्मित होकर कहा, "तुम्हें!" रमणी ने कुछ रुष्ट होकर उत्तर दिया—"हाँ मुझे, मैं ही नन्दिनी हूँ।" मोहन कुछ देर तक भय से स्तम्भित हो गया। फिर उसने विनय पूर्वक कहा—"मुझे क्षमा करो। मैं नहीं जानता था, मैं अपनी गायको पुकार रहा था। उसका भी नाम नन्दिनी है।" रमणी ने भृकुटी संकुचित करके कहा—"ऐसा!" फिर तुरत ही खिड़की बन्द हो गई। थोड़ी देर तक मोहन कुछ समझ न सका। फिर वह धीरेसे उतर आया और नन्दिनी को लेकर घर लौट पड़ा।

घर में आकर उसने देखा कि रायबाब का दरवान रघुनाथ

उसकी प्रतीक्षा कर रहा है। उसे देखते ही रघुनाथ कहने लगा—"रायबाबूने तुम्हारी गाय मोल ले ली है। चलकर इसे गोशालामें बाँध आओ।"

मोहन का हृदय एक बार ज़ोर से धक करके रह गया, फटा नहीं। वह चुपचाप रघुनाथके साथ अपनी नन्दिनी को रायबाबू की गोशाला में छोड़ आया। उसी दिनसे मोहन की दिन-चर्य्या में परिवर्तन हो गया। वह निर्जन वन की ओर न जाकर घर का काम-काज देखने लगा। माताको बड़ी प्रसन्नता हुई। पर उसे यह नहीं मालूम हुआ कि उसकी प्रसन्नता के लिये मोहन को क्या देना पड़ा।

भिक्षुक का दान।

यह कैसी विचित्र लीला है, यह कैसा व्यवहार।
तुम्हें लोक-मर्य्यादा का है कुछ भी नहीं विचार।
मुझे जान पड़ता है, तुम तो करते हो उपहास।
प्रभो! तुम्हारा ढङ्ग देख कर विस्मित है संसार।
मुझसे भी तुम आज माँगते हो भिक्षा का दान।
क्या मैं तुम्हें नाथ! दे सकता कुछ भी किसी प्रकार!
तुमसे लेकर मैं करता हूँ जीवन का निर्वाह।
तुम पर ही तो सदा दरिद्रों का रहता है भार।

मैंने जान लिया ऐसी ही सदा तुम्हारी रीति ।
भिक्षुक से भिक्षा लेकर तुम करते हो उपकार ।
सत्य कथा कहने से मुझ पर मत हो जाना रुष्ट ।
कह दो, तुम क्या नहीं गये थे कभी द्वार से द्वार ?
तुम्हें सुदामा के तण्डुल से हुआ नहीं क्या तोष ?
शबरी के बेरों पर तुमने किया नहीं अधिकार ?
बलिसे छलकर ग्रहण किया था किसने यह त्रैलोक्य ?
पुष्प-दान लेकर क्या गज का किया नहीं उद्धार ?
कुछ भी हो, पर नहीं करूँगा तुमको आज निराश ।
हृदय-सिन्धु का रत्न तुम्हें मैं देता हूँ उपहार ।
मलिन जानकर यदि लेने में इसको हो सङ्कोच ।
तो सुधि कर लेना, कैसा था भृगु का पद-प्रहार ।

—कृतघ्नता—

चन्द्र हरता है निशा की कालिमा ।
हृदय की देता उसे है लालिमा ।
किन्तु होकर लोक-निन्दा से अशङ्क ।
निशा देती है उसे अपना कलङ्क ।

झलमला*

मैं बरामदे में टहल रहा था। इतने में मैंने देखा कि, विमला दासी अपने आँचलके नीचे एक प्रदीप लेकर बड़ी भाभीके कमरेकी ओर जा रही है। मैंने पूछा-- "क्यों री! यह क्या है?" वह बोली, "झलमला।" मैंने फिर पूछा-- "इससे क्या होगा?" उसने उत्तर दिया--"नहीं जानते हो बाबू! आज तुम्हारी बड़ी भाभी पण्डितजी की बहूकी सखी हो कर आई हैं, इसीलिए मैं उन्हें झलमला दिखाने जारही हूँ।

तब तो मैं भी किताब फेंक कर घर के भीतर दौड़ गया। दीदी से जाकर मैं कहने लगा, "दीदी, थोड़ा तेल तो दो।" दीदी ने कहा,--"जा, अभी मैं काम में लगी हूँ।" मैं निराश होकर अपने कमरे में लौट आया। फिर मैं सोचने लगा,-- "यह अवसर जाने न देना चाहिये, अच्छी दिल्लगी होगी।" मैं

---

* छत्तीस गढ़ में झलमला उस दीपक को कहते हैं जिसे दासियाँ कुछ इनाम पाने की इच्छा से दिखाती हैं।

इधर-उधर देखने लगा। इतने में मेरी दृष्टि एक मोमबत्ती के टुकड़े पर पड़ी। मैंने उसे उठा लिया और एक दिया-सलाई का बक्स लेकर भाभी के कमरे की ओर गया। मुझे देख कर भाभी ने पूछा,—"कैसे आये बाबू?" मैंने बिना उत्तर दिये ही मोमबत्ती के टुकड़े को जलाकर उनके सामने रख दिया। भाभी ने हँस कर पूछा,—"यह क्या है?"

मैंने गम्भीर स्वर में उत्तर दिया,—"झलमला।"

भाभी ने कुछ न कह कर मेरे हाथ पर पाँच रुपये रख दिये। मैं कहने लगा,—"भाभी! क्या तुम्हारे प्रेमके आलोक का इतना ही मूल्य है?" भाभी ने हँस कर कहा,—"तो कितना चाहिए?" मैंने कहा,—"कम से कम एक गिनी।" भाभी कहने लगी,—"अच्छा इस पर लिख दो; मैं अभी देती हूँ।" मैंने तुरत ही चाकू से मोमबत्ती के टुकड़े पर लिख दिया,—"मूल्य—एक गिनी।" भाभी ने गिनी निकाल कर मुझे दे दी और मैं अपने कमरे में चला आया। कुछ दिनों बाद, गिनी के खर्च हो जाने पर, मैं यह घटना बिलकुल भूल गया।

८ वर्ष व्यतीत हो गये। मैं बी० ए० एल० एल० बी० होकर इलाहाबाद से घर लौटा। घर की वैसी दशा न थी, जैसी आठ वर्ष पहले थी। न भाभी थी और न बिमला दासी ही। भाभी हम लोगों को सदा के लिये छोड़ कर स्वर्ग चली गई थी, और बिमला कटङ्गी में खेती करती थी।

सन्ध्या का समय था। मैं अपने कमरे में बैठा न जाने क्या सोच रहा था। पास ही कमरे में पड़ोस की कुछ स्त्रियों के साथ दीदी बैठी थी। कुछ बातें हो रही थीं, इतने में मैंने सुना, दीदी किसी स्त्री से कह रही है,—"कुछ भी हो बहिन, मेरी बड़ी बहू घर की लक्ष्मी थी।" उस स्त्रीने कहा-"हाँ बहिन! खूब याद आई, मैं तुमसे पूँछने वाली थी। उस दिन तुमने मेरे पास सखी का सन्दूक़ भेजा था न?" दीदी ने उत्तर दिया, "हाँ बहिन, वह कह गई थी, कि उसे रोहिणी को दे देना।" उस स्त्रीने कहा,—"उसमें सब तो ठीक था, पर एक विचित्र बात थी।" दीदी ने पूछा,—"कैसी विचित्र बात?" वह कहने लगी,—"उसे मैंने खोलकर एक दिन देखा तो उसमें एक जगह खूब हिफ़ाजतसे रेशमी रूमाल में कुछ बंधा हुआ मिला। मैं सोचने लगा, यह क्या है। कौतूहल वश उसे खोल कर मैंने देखा। बहिन, कहो तो उसमें भला क्या रहा होगा?" दीदीने उत्तर दिया, "गहना रहा होगा।" उसने हँस कर कहा—"नहीं, गहना न था। वह तो एक अधजली मोमबत्तीका टुकड़ा था और उस पर लिखा हुआ था—"मूल्य—एक गिनी।" क्षण भरके लिये मैं ज्ञान-शून्य हो गया, फिर अपने हृदयके आवेग को न रोक कर मैं उस कमरेमें घुस पड़ा और चिल्ला कर कहने लगा—"वह मेरी है; मुझे देदो!" कुछ स्त्रियाँ मुझे देख कर भागने लगीं। कुछ इधर-उधर देखने लगीं। उस स्त्रीने अपना सिर ढाँकते

ढाँकते कहा—"अच्छा, बाबू मैं कल उसे भेज दूँगी"। पर मैंने रात को ही एक दासी भेज कर उस टुकड़े को मँगा लिया। उस दिन मुझसे कुछ नहीं खाया गया। पूछे जाने पर मैंने यह कह कर टाल दिया कि सिरमें दर्द है। बड़ी देर तक इधर-उधर टहलता रहा। जब सब सोने के लिए चले गये तब मैं अपने कमरेमें आया। मुझे उदास देखकर कमला पूछने लगी "सिरका दर्द कैसा है?" पर मैंने कुछ उत्तर न दिया; चुपचाप जेबसे मोमबत्ती को निकाल कर उसे जलाया और उसे एक कोनेमें रख दिया।

कमलाने पूछा—"यह क्या है?"

मैंने उत्तर दिया—"झलमला।" कमला कुछ न समझ सकी। मैंने देखा कि थोड़ी देरमें मेरे झलमलेका क्षुद्र आलोक रात्रिके अन्धकार में विलीन हो गया।

—मिनी की ममता—

युद्ध भूमि के चित्र पर मैंने अपनी दृष्टि।
देकर चिन्तित भावसे कहा, "हाय यह सृष्टि
होती आज विनष्ट है, था किसका अभिशाप?"
धीरे से आकर मिनी खड़ी हुई चुपचाप।

* * * * * *

अधरों पर थी हास्य की रेखा बड़ी पवित्र ।
मैंने उसको दे दिया युद्ध-भूमि का चित्र ।
देखा, उसका तो बड़ा था विचित्र ही ढङ्ग ।
शत्रु-मित्र के भाव का किया मिनी ने भङ्ग ।
फ्रांस और इङ्गलेण्ड पर था जब उसका हाथ ।
जर्मन देशों का दिया सजल दृगों ने साथ ।

गूँगी

गूँगीका नाम था गोमती। पर वह खूब बोलती थी, इसीसे मैंने उसका नाम गूँगी रख दिया था। गूँगी हो जाने पर भी गोमती की वाक्-शक्ति कम नहीं हुई। तो भी सब लोग उसे गूँगी ही कहते गये।

गूँगी हम लोगों की दासी, विमला की लडकी थी। नीच वंशमें जन्म देकर भी भगवान्ने उसे कुछ ऐसा रूप दिया था कि उसके देखतेही सब लोग उसे गोद में लेना चाहते थे। वह प्रति दिन अपनी माँ के साथ हमारे घर आती। जब तक विमला घरका काम-काज करती, वह मिनी के साथ खेलतीं। जब मिनी पढ़ने के लिये आती तब वह भी आ जाती। पर वह तो चुप बैठ नहीं सकती थी। इसलिये वह भी मिनीके साथ पढ़ती थी। गूँगीकी बुद्धि भी तीव्र थी। मैंने देखा कि थोड़े ही दिनोंमें वह मिनी से भी आगे बढ़ गई। उसकी ऐसी बुद्धि देख मैं उसे खूब उत्साह से पढ़ाने लगा। मैं पाँच वर्ष तक विलासपुर में रहा और गूँगी पाँच वर्ष तक मुझसे पढ़ती रही। जब मुझे विलासपुर छोड़कर कलकत्ता जाना पड़ा तब गूँगी

११ वर्षकी थी। पर उस समय भी उसने मुझसे "बालिका-भूषण" "भूगोल" "अङ्कगणित" और "इतिहास" के भी कुछ अंश पढ़ लिये। जाते समय मैं उसे "रामचरित मानस" देता गया। मैं जानता था, थोड़े ही दिनों में वह सब भूल जायगी।

कलकत्ता आते ही मेरा भाग्योदय हुआ। साहब की मुझ पर कृपादृष्टि हुई। मेरी पदोन्नति होने लगी। मैं भी खूब परिश्रम करने लगा। कलकत्ते में मैं १५ वर्ष तक रहा। १५ वर्षके बाद मैं फ़ुर्स्ट ग्रेड का डेपुटी मैजिस्ट्रेट होकर श्रीरामपुर चला गया।

शीतकाल का प्रारम्भ हीं था, पर ठण्ढ पड़ने लगी थी। मैं बाहर धूप में कुरसी डालकर आराम से "ष्टेट्स्मैन" पढ़ रहा था। कुछ देर पढ़ने के बाद मैंने ष्टेट्स्मैन फेंक दिया और एक बार चारों ओर दृष्टिपात किया। मेरे घर के सामने ही एक पक्का कुआँ था। प्रति दिन वहाँ प्रातःकाल स्त्रियोंकी बड़ी भीड़ रहती थी। उस दिन भी वहाँ स्त्रियोंकी संख्या कम न थी। मैंने देखा कि हमारे घरकी दासी, मालती, भी गगरा लिये बैठी है। इतनेमें कुछ स्त्रियाँ लकड़ियों का गट्ठा सिर पर रक्खे उधरसे निकलीं। मालतीने उनमें से एक को पुकार कर कहा, "लकड़ी बेचोगी ?" एकने उत्तर दिया, "क्या दोगी ?" मालती कहने लगी, "तूही कह दे ना, क्या लेगी ?" उस स्त्रीने कहा, "आठ आना।" मालतीने कहा "बस बहिन, हो गया। यह तो लेन-देनकी बात नहीं है।" तब उस स्त्रीने कहा, "बहिन,

छः आने से कम न लूँगी। तुम्हें लेना हो तो ले लो; नहीं जाती हूँ।" यह कहकर वह जाने का भी उपक्रम करने लगी। मालतीने कहा "मैं तो पाँच आने दूँगी।" तब वह स्त्री जाने लगी। इतने में दूसरी लकड़ीवाली ने उससे कहा, "देदे री, पाँच आने ठीक तो हैं!" उस स्त्रीने उत्तर दिया, "नहीं बहिन, मैं न दूँगी छः आने से एक कौड़ी भी कम न लूँगी।" तब तक मालतीने गगरा भर लिया था। कहने लगी, "अच्छा ला।" वह स्त्री मालती के साथ आने लगी। उसकी सङ्गनी लड़कीवाली दूसरी ओर चली गई।

फिर मैंने चस्मा साफ़ करके ष्टेट्समैन उठा लिया और पढ़ने लगा। थोड़ा ही पढ़ा था कि मालती आकर कहने लगी "बाबू, लकड़ीवाली लकड़ी रखकर कहाँ गई। उसने पैसे भी नहीं लिये!" मैंने कहा—"आती होगी। उसे क्या अपने पैसे की चिन्ता न होगी?" मालती चुप हो रही। तब तक धूप कुछ तेज़ हो गयी थी। मैंने उससे कहा—"मालती, कुरसी भीतर रखदे।"

मालती ने वैसा ही किया। मैं भीतर बैठ गया। दस बजते ही मैं कचहरी चला गया। दिन भर मैं काम में लगा रहा। सन्ध्या होतेही मैं घर लौट आया। घरमें आकर मैंने देखा कि पुरुषोत्तम बाबू मेरे कमरे में बैठे हुए हैं। मैंने प्रसन्नता-सूचक शब्दों में कहा—"ओहो, पुरुषोत्तम बाबू! इतने दिनों में! मिनी कैसी है?"

पुरुषोत्तमबाबूने कहा—"वह भी तो आई है।" तब तो मैं पुरुषोत्तम बाबू को छोड़ कर भीतर चला गया। देखा तो मिनी कमला के साथ बैठी हुई है। मिनी ने प्रणाम किया। मैंने उसे अंत:करण से आशीर्वाद दिया। बड़ी देर तक हम लोग बैठे रहे। इधर-उधर की खूब गप्पें होती रही। ११ बजे हम लोग सोने गये।

दूसरे दिन मैं बाहर कुरसी डाल कर बैठ गया। पुरुषोत्तमबाबू अभी तक सो रहे थे। मैंने ष्टेट्समैन उठा लिया। थोड़ी देर बाद मैं फिर कुँए की ओर देखने लगा। आज भी वहाँ स्त्रियों की वैसी ही भीड़ थी। आज भी मालती गगरा लिये बैठी थी। इतनेमें कल ही की लकड़ीवाली फिर उधर से निकल पड़ी। मालती ने उसे पुकार कहा—"ओ लकड़ीवाली कल तूने पैसे नहीं लिये?"

वह कहने लगी,—"बहिन आज भी लकड़ी लाई हूँ, इन्हें भी मोल ले लो। दोनों का दाम साथ ही ले लूँगी।" मालती ने कहा,—"अच्छा!" इतने में पुरुषोत्तम बाबू आ गये। मैं उनसे गप्पें मारने लगा। थोड़ी देर में भीतर से "चोर, चोर" का हल्ला हुआ। हम लोग घबरा कर भीतर दौड़े, देखा लकड़ी वाली को दरवान ने पकड़ लिया है। मालती आदि चार-पाँच और स्त्रियाँ इधर-उधर खड़ी थीं; मुझे देख कर सब चुप हो गईं। मैंने पूछा, "माजरा क्या है?" मालती कहने लगी, "बाबू मैं इस लकड़ीवाली के पैसे लाने के लिये

भीतर गई, लौटने पर देखती हूँ कि यह नहीं है। इतनेमें आप के कमरे से कुछ आवाज़ आई। मैं चोर-चोर कहकर चिल्लाने लगी। जब दरवान आया तब यह आपके कमरेमें पकड़ी गई।" दरवान ने कहा,—"बाबू इसने अपने कपड़ों में कुछ छिपा लिया है।" तब मैंने लकड़ीवाली से पूछा,—"क्यों क्या बात है?" लकड़ीवाली ने एक बस्ता निकाल कर कहा,—"बाबूजी, मैं इसे रखने के लिये आई थी।"

मैंने बस्ता खोल कर देखा तो उसमें रामचरित मानस की एक कापी थी। उसके ऊपरी पृष्ठ पर मेरे ही हाथका लिखा हुआ था, "गूँगी।" मैं चौंक पड़ा। वह मेरी गूँगी ही थी। "गूँगी!" मैंने इतना कहा ही था कि गूँगी मेरे पैरों पर गिर पड़ी। क्षण भर के लिए सब भूल कर मैंने उसे गोद में उठा लिया। गूँगी मेरी गोद में रोने लगी।

अन्नपूर्णा के मन्दिर में

(१)

कमला अन्नपूर्णाके मंदिरमें परिचारिका होकर रहती थी। जन्म भर कुमारी रह कर देवीकी सेवा करना ही उसका व्रत था। १२ वर्षकी अवस्था में कमला ने संसारसे अपना बंधन तोड़ कर जगज्जननी की गोद में आश्रय लिया था। ६ वर्ष तक उसने संसारकी वासनाओंको पद-दलित करके अपना व्रत पालन किया। क्षण भर भी उसका मन विचलित नहीं हुआ। किन्तु आज न जाने उसका हृदय क्यों चंचल हो रहा था।

संध्या हो गई थी। कमला मन्दिर के उद्यान में देवी की पूजा के लिए फूल तोड़ रही थी। पर उसकी दृष्टि फूलों की ओर न थी। उसके हृदय-पटल पर किसीका चित्र अङ्कित हो गया था, जिसे हज़ार चेष्टा करने पर भी वह हटा नहीं सकी थी। उसकी दृष्टि सदा उस चित्रकी ओर रहती थी। उस समय भी वह उस मूर्त्ति की उपासना कर रही थी। कमला को अपनी इस दुर्बलता पर लज्जा होती थी। वह देवीसे इसे

दूर करनेके लिए प्रार्थना करती थी। उसे विश्वास था कि वह अपनी दुर्बलता कुछ दिनों में अवश्य दूर कर सकेगी।

जब कमला फूल तोड़ चुकी, तब उसे ऐसा जान पड़ा कि कोई उसके पीछे खड़ा है। उसने तुरंतही लौट कर देखा। वह कोई और न था; उसका हृदयाङ्कित चित्रही था। कमला को अपनी ओर नेत्र किये देख वह कहने लगा—"कमला, मुझे क्षमा करो। मैं लौट आया हूँ। मुझसे रहा नहीं गया। मैं सच कहता हूँ; अब मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकता। तुम्हीं मेरे जीवनकी आशा हो! कमला, मुझे निराश मत करो; सदाके लिये अंधकारमें मत फेंको। तुम संसारमें रहकर भी भगवतीकी उपासना कर सकती हो। सच पूछो तो सच्ची उपासना संसार में रहने से ही होती है।"

वह इतना कहकर चुप हो गया और कमला की ओर विषादपूर्ण नेत्रों से देखने लगा। कमला ने कम्पित स्वर से उत्तर दिया—

"कुमार, मुझे अभागिनी मत बनाओ। माताकी गोदसे मुझे मत हटाओ। मुझे भूल जाओ। मैं जानती हूँ, मैं स्वयं तुम्हें नहीं भूल सकी हूँ। पर तुम मुझे भूल जानेकी चेष्टा करो।"

कुमारसिंहने अत्यन्त निराश होकर कहा—

"कमला, मैं तुम्हें कभी नहीं भूल सकता। पर तुम्हारा अनुरोध है, इसलिये मैं तुम्हें भूल जानेकी चेष्टा करूँगा।

प्राण रहते तुम्हें भूलना मेरे लिये असंभव है । देखूँ, प्राण चले जाने पर तुम्हें मैं भूलता हूँ कि नहीं । मैं जाता हूँ ; सदाके लिये जाता हूँ । जगदीश्वर तुम्हारा कल्याण करें ।"

इतना कहकर कुमारसिंह जाने लगे । तब कमलाने क्षीण स्वरसे पुकार कर कहा—"कुमार, ऐसा मत करो । मेरे लिए अपना प्राण-नाश मत करो ।"

कुमारसिंह ने फिर लौटकर उत्तर नहीं दिया । तब कमला ने हताश होकर कहा, "कुमार, ठहर जाओ । मैं तुम्हारे साथ चलूँगी ।"

(२)

भगवती अन्नपूर्णाकी पूजा हो गई थी । सब परिचारिकायें विश्राम करनेके लिए अपने कमरों में चली गई थीं । केवल कमला मंदिरमें रह गई थी । वह थोड़ी देर तक सजल नेत्रों से देवीकी ओर देखती रही । फिर एक निःश्वास लेकर उसने कहा—"भगवति, मैं जाती हूँ । मुझे जानाही पड़ता है । उसने कहा है कि यदि मैं न जाऊँगी तो वह आत्म-हत्या कर लेगा । मैं उसे जानती हूँ और देवि, तुम भी तो उसे जानती हो । वह जरूर आत्म-हत्या कर लेगा । तब क्या उसके साथ मुझे जाना चाहिए ? पर मुझे तुम्हारी सेवा छोड़कर रहना पड़ेगा । अपना व्रत-भंग करने से क्या मैं पापिनी न होऊँगी ? वह कहता था, इसमें कुछ पाप नहीं । पर मुझे ऐसा जान पड़ता है कि मैं पाप कर रही हूँ । जननि ! मुझे विश्वास है,

तुम अपनी दासीको पतित न होने दोगी । यदि मैं पाप कर रही हूँ तो कह दो—सिर्फ़ इतनाही कह दो कि यह पाप है—मैं उसके साथ कभी नहीं जाऊँगी । मुझ पर दया करो, अब वह आता होगा । मैंने तुम्हारे ऊपर सब छोड़ दिया है । कह दो—इतना कह दो—तू पापिनी है, पाप कर रही है । बस ।" इतनेमें बाहरसे किसीका पद शब्द सुनाई दिया । कमला तुरंतही देवी अन्नपूर्णा के पैरोंपर गिर पड़ी । वह रोकर कहने लगी, "देवि, वह आ रहा है । मुझ पर दया करके इतना कह दो कि यह पाप है । मैं फिर कभी न जाऊँगी, तुम्हारी गोद से कभी न अलग होऊँगी ।" वह कुछ और कहना चाहती थी कि कुमार-सिंह ने मंदिर में प्रवेश कर कहा—"कमला, मैं आ गया हूँ ।"

कमलाने उठकर कहा—"कुमार, देवी की ओर देखो । वह मेरी ओर कितनी घृणा की दृष्टि से देख रही है । वह कहती है—तू पापिनी है ।"

कुमारसिंह ने हँस कर कहा—"कमला, तू भूलती है । देवी दयामयी है । उसकी दृष्टि में घृणा का थोड़ा भी चिह्न नहीं । वह करुणा-पूर्ण नेत्रों से तेरी ओर देखती है ।" कमला ने फिर देखा । चन्द्रमाके आलोक में देवी का वदन-मंडल शान्ति-युक्त जान पड़ता था । तब कमला ने निराश होकर कहा—"तो, माँ, मैं अब जाती हूँ । प्रातःकाल मैं दरिद्रों को फल-फूल और वस्त्र देती थी । कल से मेरा काम कोई दूसरी दासी करेगी । पर मैं अपना कार्य्य-भार तुम्हें सौंप जाती हूँ ।"

कमला सजल नेत्रों से देवी को प्रणाम करके कुमारसिंह के साथ चली गई। मंदिर थोड़ी देर के लिए निस्तब्ध हो गया।

* * * * * *

प्रात:काल की लालिमा आकाश में फैलने लगी थी। दरिद्रों का दल मंदिर की ओर आरहा था। उस समय भगवती अन्नपूर्णा ने अपना आसन छोड़ दिया। नीचे आकर उन्होंने केवल इतना कहा—अश्रु पूर्ण नेत्रों से जिसने किया प्राण का दान।

उसकी भक्ति और श्रद्धा का करती हूँ सम्मान॥
सेवा और दया का जिसने किया सदा विस्तार।
उसका निश्छल प्रेम देखकर लेती हूँ मैं भार॥

(३)

दरिद्रोंका दल मंदिर में आगया। उस दिन कमला का दयापूर्ण मुख-मंडल देखकर सब लोग भगवती अन्नपूर्णा की जय-ध्वनि करने लगे। जो जिस वस्तुकी इच्छा करता था उसे पा जाता था। फूल, फल, मिष्टान्न, वस्त्र, आभूषण किसी वस्तु का आज अभाव न था। सब दरिद्रों की कामनाएँ आज पूरी हो गईं। उन लोगोंके आनंदकी सीमा न रही। जाते समय सब लोगों ने एक स्वर से कहा—"भगवती अन्नपूर्णा की जय, माता कुमारी की जय।"

दरिद्रों के चले जाने पर देवी ने कहा—"कमला, यदि मुझ से कोई भूल हो जाय तो तुम क्षमा करना।" इतनेमें किसी परिचा-

रिका ने आकर कहा—"कमला, देवी की मूर्त्ति कहाँ गई ? तू तो कल रात को मंदिर में थी।" देवी कुछ उत्तर देना चाहती थी कि वह दासी चिल्ला उठी—"कमला तूने यह क्या किया ? देवी के आभूषण क्यों पहन लिये ?" इतना कह कर वह दूसरी ओर चली गई। थोड़ी देरमें सब परिचारिकाओं को साथ लिए हुए मंदिर की स्वामिनी आगई। कमलाके गले में देवी का हार देखते ही वह क्रुद्ध होकर बोली—"दुष्टे! तूने ऐसा क्यों किया ? देख तुझे मैं कैसा दण्ड देती हूँ।" फिर परिचारिकाओं की ओर देखकर कहा—"यह पिशाचिनी है। इसके पापों के कारण देवी अदृश्य हो गई हैं। इसे पकड़ कर स्वामीजी के पास ले चलो।" आज्ञा पातेही सबने उसे पकड़ लिया और स्वामीजी के पास ले गईं। स्वामी जहाँ रहते थे वहाँ अन्धकार था; पर उन लोगोंके भीतर जातेही वहाँ प्रकाश फैल गया। सब लोग विस्मय-विमुग्ध होकर कमला की ओर देखने लगे। उस समय उसके वदन-मण्डल से एक दिव्य ज्योति निकल रही थी। यह अलौकिक चमत्कार देखकर सब लोग आश्चर्य और भय से स्तम्भित हो गये। तब स्वामी ने चिल्लाकर कहा—"कमलाको छोड़ दो। उस पवित्र शरीर में देवी निवास कर रही है।" सब लोग अलग हो गये और उस कान्तिमयी मूर्त्तिकी वन्दना करने लगे। इस तरह छः वर्ष बीत गये।

(४)

अमावस्या की रात्रि थी। चारो ओर अंधकार छाया हुआ

था। खूब निस्तब्धता थी। कमलाने धीरे-धीरे अन्नपूर्णा के मन्दिर में प्रवेश किया। उसका शरीर काँप रहा था। आज मन्दिर को छोड़े उसे ६ वर्ष हो गये। इन ६ वर्षों में न जाने उसने कितने पाप किये। कलङ्कित देह लेकर उसे मन्दिरमें जाने का साहस नहीं होता था। पर देवी को एकबार फिर देखने की उसे इच्छा थी। इसीलिए अंधकारमें वह आई थी।

मन्दिर ज्यों का त्यों था। देवी की मूर्त्ति भी जहाँ की तहाँ थी। प्रदीपके मलिन प्रकाश में भी मूर्त्ति को कमला स्पष्ट देख सकती थी। उसे ऐसा जान पड़ा कि इस समय भी देवी उसकी ओर दया-पूर्ण नेत्रों से देख रही हैं। कमला गद्गद स्वरसे कहने लगी—"देवि, मैं कलङ्किनी हूँ, पापिनी हूँ। तुम्हारे आश्रयसे अलग होकर मैंने अनेक पाप किये हैं। सारा संसार मुझसे घृणा कर रहा है। मैं कुलटा हूँ। इसीलिए तुम्हारे मन्दिर में भी मुझे आश्रय न मिलेगा। तुम्हें देखकर अब दूसरी जगह जाने की इच्छा भी नहीं। माँ, अब तुम मुझे अपनी गोद में लेलो। मैं आती हूँ। मुझे अलग मत करो।"

कमलाने देवीके पैरों पर अपना प्राण त्याग दिया। मरते समय उसने सुना—

"अश्रुपूर्ण नेत्रोंसे जिसने किया प्राणका दान।
उसकी भक्ति और श्रद्धाका करती हूँ मैं मान।
सेवा और दयाका जिसने किया सदा विस्तार।
निश्छल प्रेम देखकर उसका लेती हूँ मैं भार॥"

दूसरे दिन लोगोंने देखा कि देवीकी मूर्त्तिके पास कमला की मृत देह पड़ी है और देवी करुणा दृष्टिसे देख रही हैं *।

पाप और पुण्य।

सन्ध्या हुई, नभोमण्डल में तमका हुआ प्रसार।
मैंने कहा "पापसे होता आवृत है संसार।"
तब चन्द्रोदय हुआ, शीघ्र ही तम हो गया विलीन।
मैंने सोचा, "नष्ट तभी तो होते सभी मलीन।"
पर विश्वम्भर का क्या ऐसा होता दया-विचार!
वह करता है नाश, क्या नहीं करता वह उद्धार?
हुआ चन्द्र तब तक कुछ ऊपर, पड़ी अचानक दृष्टि।
मैंने देखी करुणा-निधि की तब अपूर्व वह सृष्टि।
ज्योतिर्मय के वक्षस्थल में करता था तम वास।
पाप-लतामें पुण्य-पुष्प का कैसा हुआ विकास।

* प्रसिद्ध बेलजियम—कवि मेटर लिंकके एक नाटकके आधार पर।

पश्चात्ताप

(१)

कुमुदिनी की कहानी ।

"मैं एक दीर्घ निःश्वास लेकर बोली—"ईश्वरही मेरी रक्षा करे। सास—मेरी आँखका काँटा है। नहीं, उससे भी कहीं बढ़कर। मुझे अनुभव नहीं काँटा लगने से आँख में कितनी पीड़ा होती है, परन्तु मेरी समझ में सासके दुराग्रह से मुझे जो दुस्सह यातना सहनी पड़ी वह उस वेदना से कहीं बढ़कर होती होगी।"

मैं नहीं कह सकती, कैसे ये सब बातें मेरे मुखसे इतने ज़ोर से निकल पड़ीं। मैं मन ही मन सोच रही थी। अकस्मात् पतिदेव को सामने खड़े देख कर मैं घबरा गई। वे कहने लगे—"देखो, कितनी बार समझाया, कितनी शिक्षाएँ दीं। परन्तु अब भी तुम्हारे विचार में कोई परिवर्तन नहीं देखता

हूँ। देखो अभी समय है। नहीं तो जिसे तुम आज आँख का काँटा समझती हो उसी के लिये आँसू बहाती रहोगी— अपने किये पर पश्चात्ताप करती रहोगी।"

मैंने मन में कहा—"अपराध तो सब माँजी का है, शिक्षायें मुझे मिल रही हैं।"

मुझे मौन देख कर वे वहाँ से चले गये।

मैं अपने पिता की एकमात्र सन्तान थी। मेरे पिता शहर के सम्पत्ति-शाली और प्रतिष्ठित व्यक्तियों में गिने जाते थे। मैं छोटी ही उम्र से मातृहीना थी। पिता ने प्रेमाश्रु से सींच-सींच कर मुझे बड़ा किया। उनके लाड़-प्यार का मुझ पर कितना प्रभाव पड़ा, मैं नहीं कह सकती।

जब सारे आनन्द की सामग्रियों के बीच रह कर मैं अपने भविष्य जीवन का सुख-स्वप्न देख रही थी। मुझे मालूम हुआ कि मैं एक निर्धन को व्याही जा रही हूँ। कहाँ मैं एक राज-गृह की कल्पना किया करती थी, कहाँ मेरे भाग्य में ग़रीब का टूटा-फूटा घर! क्या विधाता की यही इच्छा थी? मेरी आँखों के सामने नैराश्य छा गया। मन में दृढ़ संकल्प कर लिया कि एक दिन सारी लज्जा को किनारे रखकर मैं पिताजी के सामने सब बात जी खोलकर कह दूँगी। अन्त में मालूम हुआ पिता जी की इच्छा ही दूसरी थी। वे चाहते थे कि मेरे पतिदेव श्वसुराल में ही रहकर श्वसुर की ज़ायदाद की देख-रेख करते हुए अपना जीवन व्यतीत करें।

यह सब सुन कर भी मेरे मनमें एक बात का भय बना ही रहा। सच कह देने में हानि ही क्या है? अपने भावी पति की कल्पना द्वारा चित्र खींचने में मैंने निर्धनता के साथ-साथ कुरूप से भी सहायता ली थी। परन्तु पाणिग्रहण करते समय मैंने अलक्षित दृष्टि से उनके मुख की ओर देख लिया—मुझे प्रसन्नता हुई—वह मुख सुन्दर था, सरलतापूर्ण था।

वे इतने अभिमानी हैं, मैं नहीं जानती थी। पिताजी की उस स्वार्थयुक्त बात को सुनकर वे कह उठे—"यह कदापि नहीं होगा—मेरी मा मेरे श्वसुरके आश्रय में रह कर जीवन व्यतीत करे! मुझ में अभी इतनी शक्ति है कि अपनी माता को—"

उनकी बात को सुनकर पिताजी बहुत क्रोधित हुए; क्योंकि सब के सामने कही गई इस बात को उन्होंने अपमान जनक समझा। परन्तु उन्होंने इतना ही कहा—"बस करो, तुम्हारी जो इच्छा।"

मुझे पतिदेव की बात एक आँख न भाई। मेरी सारी कल्पना में कुठाराघात हो गया। उनके साथ मैं चली तो आई; परन्तु वहाँ बिलकुल ही मन नहीं लगता था। वह घर मुझे काटने दौड़ता था। वहाँ काम करते समय जान पड़ता था मानों किसी कारागृह में काम कर रही हूँ। जो सुख मुझे घर में था वह स्वप्न हो गया।

तुम हँसोगी—परन्तु मैं सच कहती हूँ—मैं उनका प्रेम-संभाषण सुनने के लिये कितनी लालायित रहती थी। प्रत्येक

दिन 'पत्नी का कर्त्तव्य' और 'सेवा-व्रत' की शिक्षा सुनते-सुनते मेरा जी ऊब सा गया था।

मैं सोचती—शिक्षा से क्या लाभ? जिस सास के कारण मेरा सारा सुख-स्वप्न क्षण ही भर में नष्ट हो गया, जिस सास ने बीच ही में आकर मेरे सुख-पथ में कण्टक बिखराये, उसके प्रति क्या श्रद्धा का भाव और क्या सेवा का भाव! मैं सास को घृणा की दृष्टि से देखती। मैं जानती हूँ, इसे सुन कर तुम मेरी निन्दा करोगी—परन्तु याद रखना अब मैं भी अपने कृत्यों को निन्दनीय समझती हूँ। मैं अपने को धिक्कारती हूँ। आज उस सब का प्रायश्चित्त करने के लिये तैयार हूँ। परन्तु हाय! कब? अब मेरा हृदय जन्म भर के लिये कलङ्क-युक्त हो गया और अब उसके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं।

(२)

मुकुन्द की कहानी।

मा ने पुकारा—"बेटा!" कितने साल के बाद ऐसा करुण और प्रेम-युक्त शब्द मैंने सुना। जब मैं बालक था तब माता बड़े प्रेम से बेटा कह कर पुकारा करती थी। परन्तु मुझे स्मरण नहीं कि उस शब्द से मैं कभी इतना विह्वल हुआ था या नहीं। युवा हो जाने पर सिवा 'मुकुन'के 'बेटा' शब्द मैंने कभी सुना ही नहीं था। आज मृत्यु-शय्या पर पड़ी हुई माता के मुख से—मर्म

भरी वाणी से—निकले हुए 'बेटा' शब्द ने मेरे हृदय की तन्त्री को अचानक बजा दिया। मैं मा की खाट के सहारे दोनों भुजाओं के भीतर सिर रक्खे बैठा हुआ था। तुरन्त उसके पास जाकर पूछा "क्या है मा ?" माता के मलिन मुख पर मृत्यु की ममता-हीन छाया को देख कर मेरी आँखों में जल भर आया।

माँने कहा—"बैठ" फिर रक्त-हीन पीले दुबले हाथों को मेरे सिर पर फेरती हुई बोली—"मकुन बेटा ! मेरा अन्तिम विनय। मेरा पक्ष लेकर उस सोने की पुतली को तुमने कितनी बार अनुचित शब्द नहीं कहा। मैं अपराधिनी थी। उसे क्षमा करना।"

बड़े कष्ट से आँसू थाम कर मैं बोला—"माँ ! तुम्हें बहू देखने की बड़ी इच्छा थी—वह आई भी; पर उसने कौन सा सुख दिया। इस वृद्धावस्था में उसका ऐसा व्यवहार—मैं तो कहूँगा—"

बीच ही में वह बोल उठी—"ना, ना, वह बड़े घरकी बेटी है। अपराध मेरा ही है। उसे क्षमा करना।" कुछ देरके बाद वह फिर बोली—"आज मेरा जी बहुत अच्छा है। वैद्य-डाक्टर की दवाई अब रहने दो। रात-रात भर जागने से तुम्हारा शरीर भी आधा हो गया है—कुछ आराम करो।"

थोड़ी देर के लिये मैं बाहर निकल आया। आकाश में मेघमाला दीख पड़ती थी। चन्द्रमा की क्षीण आभा पृथ्वी में प्रकाश डालनेकी चेष्टा कर रही थी। मैंने एक बार उस अद्भुत

प्रकृति-सौन्दर्य्य की ओर देखा। परन्तु मेरा ध्यान उधर नहीं था।

छः दिन पहले की बात है, माँ को ज्वर चढ़ आया था। रात के दस बजे थे। मैंने अपने कमरे में जाकर देखा—कुमुदिनी आराम की नींद ले रही है। मैंने उसकी निद्रा को भङ्ग करते हुए कहा—"उठो भी, माँ को बुखार चढ़ आया है।" कुमुदिनी उठ कर बैठी और बोली—"तो मैं क्या कर सकती हूँ किसी डाक्टर को बुलवाओ।"

मैं मन का क्रोध मनही में दबाकर बोला—"अभिमानिनी, माँ के पास जा, और क्या करेगी। कुछ न बने तो एकबार पूछ देखना—तबीयत कैसी है।"

वह कुछ देर चुप रही। जान पड़ता है उसके हृदय में कुबुद्धि और सुबुद्धि का द्वन्द युद्ध होने लगा। अन्त में कुबुद्धि की जीत हुई। वह मेरे मुख की ओर देखती हुई बोली—"मेरा भी जी अच्छा नहीं।"

मैं चुपचाप लौट आया। मन में घृणा के साथ कहा—"मातृहीना, तू उस स्वर्गीय प्रेमको क्या जाने जो माताके हृदय में छिपा रहता है।"

(३)

कुमुदिनी की कहानी ।

अपनी दुष्ट प्रकृति की बात फिर सुनाती हूँ ।

सास को उस भीषण ज्वरावस्था में देख कर सुझाया—"यह अच्छा अवसर है । यदि तुम अब घर चली जाओ तो उनको—जो तुम्हें दिन में कई बार तुच्छ आदि शब्दों से सम्बोधन किया करते थे—मालूम हो जायगा कि तुम्हारा भी क्या मूल्य था ।"

इसके पहले भी मैं कई बार उनके सामने घर जाने की इच्छा प्रगट कर चुकी थी । परन्तु उन्होंने यही कहा—"इसमें लोक-निन्दा का भय है ।"

मैं बोली—"मैं अब और नहीं सह सकती । कहीं इस दुःख का अन्त भी है ? मुझे घर जाने दो ।"

उत्तर मिला—"तुम अब अपने को एक सम्पत्ति-शाली पुरुष की कन्या मत समझो । तुम हो एक निर्धन की पत्नी। निर्धन के घर में कहीं तुम्हारे लिए सुख है ? वहाँ सिर्फ चिन्ता है, पश्चात्ताप है, आह है ।"

मैंने मन में कहा—"यह शिक्षा किसी दूसरी स्त्री को उप-युक्त होगी ।"

मैं पितृ-गृह न जा सकी । सास से इतने समीप रहते

हुए भी मैं एक दिन उनके कमरे में नहीं गई। उनकी बीमारी बढ़ रही थी।

एक दिन रात्रि में इन्हीं सब बातों की चिन्ता करते-करते मैं सो गई। स्वप्न में देखा—मैं पिता के घर पहुँच गई हूँ। परन्तु वहाँ भी मुझे सुख नहीं। जो मुझे देखता है मुँहपर मेरी निन्दा करता है। वह घर भी कलह का घर हो गया। मेरी सौतेली माँ ने कहा—"कुमुदिनी, न जाने क्या पाप कर आई है, जिसका फल हमें भी भोगना पड़ता है। हमारे घर की शान्ति ही भङ्ग हो गई है।" पिताजी का भी वह प्रेम नहीं रहा। मुझे देख कर वे घृणा से मुँह फेर लेते थे। मैं घबरा गई। पतिदेव को दो पत्र लिखे, पर कोई उत्तर नहीं मिला। अन्त में मैं अकेली अपने पिता की गाड़ी में बैठ कर रवाना हुई। मेरे हृदय-मन्दिर से बार-बार यही प्रतिध्वनि निकलती थी—"जाओ, पतिके स्नेहपूर्ण दृष्टि के नीचे, सास के मलिन अञ्चल के ही भीतर तुम्हारे लिये शान्ति है, सुख है।"

मैं ससुराल पहुँची। देखा उस घर की शोभा और भी क्षीण हो रही थी। मेरी गाड़ी खड़ी हुई। मैं नीचे उतरी। पतिदेव ने खिड़की में सिर डाल कर पूछा—"कौन है।" मैंने उत्तर दिया "कुमुदिनी, तुम्हारी दासी।"

उसके बाद मैं उनके चरणों में लिपट कर रोने लगी—कहा "मुझे स्थान दो।" वे विरक्तभाव से बोले—"इस घर में तुम्हारे योग्य कोई स्थान हो तो ढूँढ़ लो और रहो। माँ की मृत्यु

के पश्चात् मैंने तो वैराग्य ले लिया।" मैं फूट-फूट कर रोने लगी।

मेरी निद्रा भङ्ग हो गई। चारो ओर अँधेरा था। मैं उठ बैठी और बिना दीपक जलाये ही सास के कमरे की ओर जल्दी-जल्दी रवाना हुई।

भीतर अन्धकार था। मैं दरवाज़े के पास खड़ी हो गई, मेरा सारा शरीर काँप रहा था।

पतिदेवने पूछा—"कौन है?"

मैं बोली—"कुमुदनी। मैं भीतर आना चाहती हूँ।"

उन्होंने कहा—"तुम अभी वहीं प्रतीक्षा करती खड़ी रहो। इस समय स्वर्गलोक में भी देवगण उस महान् आत्मा की प्रतीक्षा में खड़े हुए हैं।"

मेरा हृदय धक् से हो गया। मैं खड़ी न रह सकी। वहीं बैठ गई। आँखों से अश्रु-जल की धारा बह निकली।
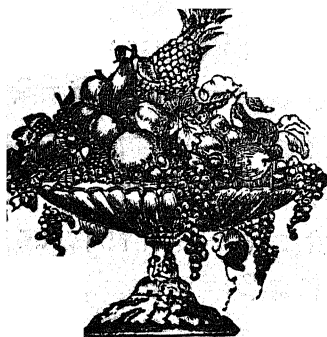
अविचार

जानकीके विवाह में निमन्त्रण पाकर मैं मण्डला गया। वहीं कमलाकान्त बाबू से मेरा परिचय हुआ। कमलाकान्त बाबू का स्वभाव बड़ा गम्भीर था, लोगों से मिलते-जुलते कम थे ; पर यदि किसी से उनका परिचय होजाता तो उससे ख़ूब बातें करते। उनका हृदय दया का आगार था। दूसरों के दुःख की कल्पनामात्र से वे व्यथित हो जाते थे। इसी सम्बन्ध में एक बार उन्होंने मुझसे एक बड़ी हृदय-द्रावक कथा कही। मैं कह नहीं सकता कि वह उनके मस्तिष्क की उपज थी, यथार्थ घटना थी अथवा किसी आख्यायिका-लेखक की कल्पना थी। पर उससे उनकी सहानुभूति अवश्य प्रकट होती है। वे कहानी नहीं कहा करते ; पर उस दिन एक ऐसी घटना होगई कि उन्हें वह कहानी कहनी पड़ी। बात ऐसी हुई—

विवाह-विधि के सम्पन्न हो जाने पर मैं पुरुषोत्तम बाबू के

यहाँ ग़पशप करनेके लिये गया। वहाँ मालूम हुआ कि पार्वती का नथ खो गया है। मैंने अपनी बहुज्ञता दिखलाने के लिए कहा, "देखो मैं उसका पता लगाये देता हूँ।" इतना कहकर मैंने काग़ज़-क़लम लेकर एक कुण्डली बनाई और कुछ गणना करने लगा। कमलाकान्त बाबू एक कोने में बैठे चुपचाप देख रहे थे। कुछ इधर-उधर दो चार लकीरें खींच कर मैंने कहा— "एक स्त्री है।" मैं आगे कुछ कहना चाहता था कि कमला-कान्त बाबू ने उठ कर कहा, "बस, किसी के जीवन के साथ उपहास मत करो। मनुष्य, चाहे वह स्त्री हो अथवा पुरुष, इतना तुच्छ नहीं है कि वह तुम्हारे उपहास की सामग्री हो।" मैं घबड़ा गया और मेरा मस्तक नत होगया। कमलाकान्त बाबू ने फिर कहा "सुनो, मैं तुम्हें एक ऐसी ही घटना सुनाता हूँ।" कमलाकान्त बाबू कहने लगे—"सुशीला ने उच्च कुल में जन्म लिया था। उसका बाल्यकाल महलों में, दास-दासियों के संर-क्षण में, व्यतीत हुआ था; पर दैव के विपर्यय से इसे अपनी प्रौढ़ावस्था में दुर्दिन देखने पड़े। उसके पिता ने उसको एक सुयोग्य पति के हाथों में समर्पण कर, कन्या-ऋण से मुक्त हो कर, परलोकवास किया। माता की मृत्यु बाल्यकाल में ही हो गई थी। इस प्रकार जब २५ वर्ष की अवस्था में वह मातृ-पितृ-सुख से वञ्चित हो गई, जब उसका पति उसे छोड़ सदा के लिये चल बसा, तब वह सुख-सौभाग्य-विहीन हो सर्वथा निराश्रय हो गई। गोद में पाँच साल का एक लड़का था।

इसके पहिले दो लड़के और हुए थे; पर उनकी मृत्यु शैशव-कालमें ही होगई। निस्सहाय होकर शहरमें रहना असम्भव था। इसलिए उसने अपने एक मामा का आश्रय ग्रहण करना ही समुचित समझा। उसके मामा पास के एक गाँव में रहते थे, बड़े धनी और प्रतिष्ठित थे। सुशीला एक बैलगाड़ी लेकर रवाना हुई और १२ बजे दिन को वह अपने मामा के घर पहुँच गई।

उस दिन उसके मामा के यहाँ पुत्र-जन्म का उत्सव हो रहा था। विराट् आयोजन था। दूर-दूर के रिश्तेदार आये थे। घर में खूब चहल-पहल थी। स्वर्णालङ्कारों से भूषित स्त्रियाँ कभी इधर और कभी उधर आ जा रही थीं। बाहर भिक्षुकों की भीड़ थी और ख़ास कमरे में इष्ट-मित्रों की। सुशीला ने भीतर जाकर अपनी मामी को प्रणाम किया; पर वह अपने काम में ऐसी व्यस्त थी कि उसने इसकी ओर दृष्टिपात तक नहीं किया। बेचारी सुशीला एक कोने में जाकर बैठ गई। दो घण्टे होगये। किसीने उससे एक बात तक नहीं पूछी। लड़का खाने के लिये हठ करने लगा। सुशीला अपने साथ कुछ मिठाई लाई थी। उसीको देकर उसने लड़के को शान्त किया। तीन बजने के बाद उधर से एक रमणी निकली। उसने सुशीला को देख कर कहा, "सुशीला, तुम हो! कब आई?" सुशीला ने उत्तर दिया, "अभी तो आई हूँ, कुछ ही देर हुई है।" रमणी ने पूछा, "आज बड़ी गड़बड़ है। तुमने तो कुछ खाया-पिया

न होगा।" सुशीला ने लज्जित होकर कहा, "नहीं।" "देखो, मैं कुछ लाती हूँ" कह कर वह रमणी चली गई। थोड़ी देर में वह एक पत्तल में कुछ मिठाई और पूरियाँ ले आई; पर वे न जाने कब की बनी थीं। उनसे बड़ी दुर्गन्धि आती थी। सुशीला भूख से व्याकुल थी। उसने किसी तरह उनसे ही अपनी क्षुधा शान्त की।

पाँच बजे घरमें बड़ा हल्ला हुआ। किसी ने कहा—"अभी तो वह यहीं खेल रहा था।" दूसरे ने कहा—"मैंने अभी तो उसके गले में हार देखा था।" किसी तीसरे की आवाज़ आई—"फिर ले कौन गया? बाहर का तो कोई आदमी आया नहीं।" सुशीला भी हल्ला सुनकर भीतर गई। उसे देखकर उसकी मामी ने कहा, "यह तो बड़ा अन्धेर है।"

सुशीला ने पूछा—"क्या हुआ मामी?"

मामी—"क्या हुआ? जैसे तुम कुछ जानती ही न हो।" सुशीला सहम कर खड़ी हो गई।

एक रमणी ने कहा—"लल्ला अभी यहीं खेल रहा था। उसके गले का हार किसीने उतार लिया।"

मामी बोल उठी—"मैं जानती हूँ, ख़ूब पहचानती हूँ, किसने हार निकाल लिया है। भला चाहे तो वह दे दे। बाहर का कोई आदमी आया नहीं है।"

दूसरी रमणी—"हमलोग इतने दिनों से हैं; पर ऐसी चोरी कभी नहीं हुई।"

एक दासी ने कहा—"यह तो आफ़त है। हम लोग ग़रीब हैं, हमीं पर सब सन्देह करेंगे।"

मामी—"तुमसे कौन कहेगा? इतने दिन काम करते होगये, कभी एक तिनका इधर का उधर नहीं हुआ।"

दासी—"तभी तो कहती हूँ, माजी! अब तो यहाँ रहना मुश्किल हो गया। ऐसी होगी तो हम लोगों का ठिकाना कहाँ?"

मामी—"अच्छा, उन्हें आ जाने दो। भेद खुल जायगा।"

सब स्त्रियाँ चली गईं। सुशीला बैठी रही। थोड़ी ही देर के बाद एक वृद्धा आई और उससे कहने लगी, "बहिन, एक बात कहती हूँ, बुरा तो न मानोगी।"

सुशीला—"कहो ना।"

वृद्धा—"बात यह है कि यदि तुमने हँसी करने के लिए हार निकाल लिया हो, तो मुझे दे दो। मैं चुपचाप जाकर दे आऊँगी। किसी को मालूम नहीं होगा।"

सुशीला चकित होकर बोली—"मैं हार निकालूँगी?"

वृद्धा—"हँसी के लिए सब किया करते हैं।"

सुशीला—"मैं मर जाऊँगी; पर दूसरे की चीज़ नहीं छुऊँगी।"

वृद्धा—"मैं समझाकर कहती हूँ, तुम मेरी बेटीके समान हो। नहीं तो इसका फल अच्छा नहीं होगा।"

सुशीला रोने लगी। तब वृद्धा उठकर चली गई।

इसके बाद उसकी मामी आई और उससे कहा, "ज़रा खोजो तो, लल्ला का हार कहाँ गिरा है।"

सुशीला बोली—"मामी, मैंने तो लल्ला को अभी देखा तक नहीं है। कहाँ खोजूँ ?"

मामी क्रुद्ध होकर बोली—"चालाकी छोड़ो। कहीं से खोज कर हार निकाल दो। अभी कुछ बिगड़ा नहीं है। उन्हें मालूम होगा तो न जाने क्या कर डालेंगे।"

सुशीला ने अपने बच्चे के सिर पर हाथ रख कर कहा—"मामी, मैं शपथ खाकर कहती हूँ, मैं कुछ नहीं जानती।" मामी क्रुद्ध होकर चली गई। सुशीला रोकर कहने लगी—"भगवन्, मैंने कौन से बुरे काम किये हैं जिनके फल मुझे दे रहे हो। प्रभो, तुमही मेरा कलङ्क दूर करो।"

इतने में ज्योतिषी जी को लेकर सुशीला के मामा आये। ज्योतिषी ने आकर सुशीला से कहा "बाई, ज्योतिष-शास्त्र झूठा नहीं होता! मैंने गणना करके देख लिया है, तुम्हीं ने वह हार निकाला है। अपनी भलाई चाहो, तो अभी निकाल दो।"

सुशीला ने उसके पैरों पर गिरकर कहा—"महाराज, मेरी रक्षा कीजिये। मुझ पर मिथ्यापवाद मत लगाइए।" ज्योतिषी जी को भी क्रोध आ गया। उन्होंने मामा साहब की ओर देख कर कहा—"अब यह किसी तरह नहीं मानेगी! पुलिस के सुपुर्द कीजिए।" पुलिस का नाम सुन कर सुशीला को

अन्तरात्मा काँप उठी। सुशीला अपने मामा के पैरों पर गिर कर गिड़गिड़ा कर कहने लगी—"मामा, मुझ पर विश्वास करो, मैं शपथ खाकर कहती हूँ, मैंने तुम्हारा हार नहीं लिया।"

पर उसकी बात पर किसी को विश्वास नहीं हुआ। रात हो गई थी। इसलिए यह निश्चय किया गया कि सुबह होते ही पुलिस-जमादार को बुलाकर सुशीला को उसके सुपुर्द कर देंगे। सब चले गये।

सुशीला बैठे-बैठे सोचने लगी कि सुबह होते ही मेरी सब मान-मर्य्यादा मिट्टी में मिल जायगी। बच्चा सोया हुआ था। उसे देख कर वह बोली—"बेटा, तुम्हें नहीं मालूम, तुम्हारी माँ पर क्या बीत रही है।"

१२ बज गये, सब सो गये। पर सुशीला की आँखों में नींद कहाँ? आँसुओं का प्रवाह बह रहा था। आकाश की ओर दृष्टि थी—"प्रभो, तुम तो दयासिन्धु हो।"

दो बज गये। सुशीला उसी तरह अश्रु-पूर्ण नेत्रोंसे आकाश की ओर देख रही थी। भगवान् ने उसकी प्रार्थना सुन ली। उसकी मान-मर्यादा को रख लिया! उसने मृत्यु को भेज दिया। सुशीला को कै पर कै होने लगी। शरीर अवसन्न होने लगा। वह लेट गई।

*　　*　　*　　*

चार बज गये। सुशीला अर्धमूर्च्छिता थी। बाहर दरवाज़े पर कोई हल्ला करने लगा।

भीतर से किसी ने फिर कहा—"कौन है ?"

बाहर से आवाज़ आई—"पुलिस-जमादार।"

सुशीला का हृत्कम्प बन्द हो गया।

भीतर से किसी ने फिर कहा—"क्या है ?"

बाहर से आवाज़ आई—"यह दासी आप का हार लेकर भाग रही थी। मैं पकड़ कर लाया हूँ। देखिए, आप ही का हार है।"

सुशीला संज्ञा-शून्य हो गई थी। हार और दासी को देख कर सुशीला के मामा और मामी चकित होकर एक दूसरे को देखने लगे। जमादार ने देखा कि स्त्री-पुरुष दोनों के चेहरे फीके पड़ गये हैं, प्रसन्नता के बदले दोनों आत्म-ग्लानि से संतापित हो रहे हैं। उसी समय सुशीला के बच्चे ने पुकारा—"माँ" !

गुड़िया

जीवन का मतलब समझना कठिन है। विधाता ने जगत् में अस्थिरता की सृष्टि क्यों की है? चंचला की चमक की तरह जीवनमें क्षण भर ज्योति उदित होकर फिर क्यों लीन हो जाती है? मनुष्य संसार के अनन्त कार्यों में व्याप्त रह कर कभी-कभी ऊपर की ओर दृष्टि डालता है। सुनील, प्रशान्त, अनन्त आकाश फैला हुआ है। नीचे शस्य-श्यामला वसुन्धरा निश्चिन्त लेटी हुई है। दोनों स्थिर हैं, दोनों स्मरणातीत काल से निश्चल होकर ठहरे हुए हैं। पर इन दोनों के मध्यवर्ती मनुष्य के जीवन में अस्थिरता है, चञ्चलता है। न जाने कब से काल का यह अविराम स्रोत प्रवाहित हुआ है। थोड़ी भी शान्ति नहीं है। इस जीवन-प्रवाह में पड़कर हम आगे ही बहते चले जाते हैं, न जाने कहाँ इसका अन्त होगा।

संध्या का समय था। मैं अपने स्कूल की क्रीड़ा-भूमि पर अकेला बैठा हुआ था। सब लड़के चले गए थे। फुटबाल-

अखण्ड अन्धकारमय हो रहा था। मैं उसी अन्धकार में बैठ कर अपने जीवन की अतीत बातें सोच रहा था। बाल्यकाल के दृश्य उदीयमान ताराओं की तरह मेरे हृदयाकाश में एक-एक कर प्रगट होने लगे। मेरी वह आशा, मेरा वह सुख-स्वप्न, मेरी वे अभिलाषाएँ सब कहाँ गईं ? जीवन के प्रभात काल में मैंने जिस ज्योति का दर्शन किया था वह अन्धकार में लीन हो गई। सब तो वैसे ही हैं। यही गाँव है, यही नदी है और यही स्कूल है। सब कुछ जैसे पहले थे वैसे ही हैं। केवल मैं ही दूसरा हो गया हूँ। अब वे भाव नहीं, अब वे आशाएँ नहीं। एकबार मैंने जो अनुभव किया था वह अब स्वप्न के समान केवल स्मृति में रह गया है। अब—

सहसा मेरी मोह-निद्रा भङ्ग हो गई। मुझे ज्ञात हुआ कि वर्तमान काल में मेरी कुछ स्थिति है; क्योंकि उसी समय वीरसिंहने आकर कहा, "माष्टर साहब, एक हाकी स्टिक का पता नहीं है।" मैं दीर्घ निःश्वास लेकर उठा और वीरसिंह के साथ जाकर सब सामान देखने लगा। सचमुच एक स्टिक नहीं थी। अब रात हो गई थी, उसका पता लगाना मुश्किल था। इसलिए वह काम दूसरे दिन के लिए छोड़कर मैं घर लौटा। रास्ते में पण्डित विष्णुराव का मकान मिलता था। जाते-जाते एकबार मैंने उनके मकान के भीतर दृष्टि डाली। देखा, पण्डित जी कुछ लिखने में व्यग्र हैं। आगे बढ़ने पर देवेन्द्र बाबू के

मकान से सङ्गीत की मधुर ध्वनि सुनाई पड़ी। मैं ठहर कर सुनने लगा। कोई गा रहा था—"कहूँ किससे मैं मनकी बात।" इसके बाद एक घर से किसी शिशु की रोदन-ध्वनि के साथ किसी स्त्री के हँसने की आवाज़ आई। रोदन और हास्यका संमिश्रण देख कर मैं अपने मनमें कहने लगा, "यही तो संसार है, एक ओर हाहाकार है और दूसरी ओर अट्टहास, एक ओर वियोग और दूसरी ओर संयोग।" इसके बाद—

इसके बाद कुछ सोचने का अवसर ही नहीं मिला। इन्दिराके एक "माष्टर" शब्द से मेरी दार्शनिक भावना नष्ट हो गई। मैं उसे गोद में लेकर भीतर घुसा भी नहीं था कि पार्वती ने आकर कहा "इधर कहाँ चले? आज मेरी गुड़िया का विवाह है। पहले उधर चलो।" पार्वती का अनुरोध मैं टाल न सका। मुझे उसके साथ जाना ही पड़ा।

भीतर जाकर मैंने देखा कि पार्वतीने अपनी गुड़ियाके विवाह का बड़ा आयोजन कर रक्खा है, बड़ी तैयारी की गई है। आँगन के बीचोंबीच मण्डप बनाया गया है! वह फूलोंसे खूब सजाया गया है। चारों तरफ मुहल्ले की लड़कियों का झुण्ड है। मुझे ले जाकर पार्वती ने एक अच्छे स्थान पर बैठा दिया। मेरे बैठ जाने पर विवाह का कार्य आरम्भ हुआ। वर-वधूके मण्डप में प्रवेश होते ही मैंने कहा, "पार्वती, तुमने सब ठीक किया, पर एक बात भूल गई हो।" पार्वती ने आग्रह से पूछा, "वह क्या?" मैंने कहा, "पुरोहित तो है ही नहीं। बिना

पुरोहित के कहीं विवाह होता है?" पार्वती ने भूल तो स्वीकार कर ली, पर अब वह मेरे पीछे पड़ गई कि मैं ही पुरोहित बनूँ। मैंने उसे यह बात समझाने में अपनी ओर से खूब प्रयत्न किया कि कायस्थ को पुरोहित का आसन ग्रहण करने का अधिकार नहीं है। पर पार्वती क्यों मानने लगी। अन्तमें मुझे पुरोहित का आसन ग्रहण करना पड़ा। विवाह आरम्भ हुआ और यह कहने की ज़रूरत नहीं कि वह विधि-पूर्वक निष्पन्न हुआ। विवाह के अन्त होने पर, जब पार्वती वर-वधू को उठाकर भीतर ले जाने लगी तब मैंने उसे रोक कर कहा, "यह क्या अन्याय कर रही हो, बिना पुरोहितको दक्षिणा दिये तुम वर-वधू को नहीं ले जा सकतीं। पार्वती ने कहा, "अच्छा फूफा, अभी ले जाने दो। कल तुम्हें एक रूमाल बुन कर दे दूँगी।" तब मैंने जाने दिया। दूसरे दिन पार्वती ने मुझे एक रूमाल दिया। मैंने उसे सन्दूक में रख छोड़ा।

ज्यों-ज्यों समय जाता है, त्यों-त्यों हम लोगों का कार्य-भार गुरुतर होता जाता है। १८ वर्ष व्यतीत हो जाने पर मैंने अपने को उस अवस्था में पाया जब मनुष्य अपनी चिन्ता छोड़ कर दूसरे की ही चिन्ता में लगा रहता है। इन १८ वर्षों में मैं फिर दूसरा ही आदमी हो गया। मुझे अब अपने परिवार की ही चिन्ता रहती थी। एक जगह से दूसरी जगह जाना मेरे लिए एक तो वैसे ही कष्टदायक, फिर जब मुझको सागर ऐसे अपरि-चित स्थान में जाने को आज्ञा हुई तब तो एक बार इस्तीफ़ा

देकर घर चले आने की इच्छा हुई। फिर सोचा, चलो, साल भर की बात है, एक बार सागर में भी रह कर देख लें। जब तक घर का प्रबन्ध न हो तबतक परिवार ले जाना अच्छा नहीं, यह सोच कर मैंने अकेले ही जाना निश्चय किया। दूसरे दिन मैं ट्रेन से सागर के लिए रवाना हुआ। शाम को मैं बिलासपुर पहुँचा। गाड़ी से उतर कर, नौकर को सामान सम्हालने के लिए कह कर मैं हाथ मुँह धोने के लिए बाहर नल पर गया, लौटकर आकर देखता हूँ कि बाबू प्यारेलाल जी खड़े हुए मेरे नौकर से बातें कर रहे हैं। मैं ख़ूब उत्साह से उनसे मिला। कुछ देर इधर-उधर की बातें होती रहीं। फिर जब उन्होंने सुना कि मैं उसी दिन की गाड़ी से सागर जाने की इच्छा करता हूँ तब तो वे बड़े बिगड़े। आख़िर उस दिन मेरा जाना नहीं हुआ। मुझे उनके घर एक दिन टिक जाना पड़ा। नौकर को पीछे से सामान लाने के लिए कह कर मैं उनके साथ चला।

सन्ध्या हो गई थी। स्कूल के लड़के हाथ में हाकी स्टिक लिए हुए प्रफुल्ल वदन चले आ रहे थे। इधर मैं ४० वर्ष के जीवन का भार लेकर जा रहा था। जीवन का विपर्यय! खैर, किसी तरह हम लोग घर पहुँचे। तब तक रात हो गई थी। बाहर के कमरे में कुछ देर बैठकर बातें कीं। फिर मैं भीतर गया। देखा, आँगन में लड़कियों की भीड़ लग रही थी। पूछने से मालूम हुआ कि आज गुड़िया का विवाह है। मुझे १८ वर्ष पहले का दृश्य दिखाई दिया। सब तो वैसा ही है; भेद इतना

ही है कि, आज पार्वती के स्थान में उसकी लड़की, सुशीला अपनी गुड़िया का विवाह कर रही है। मैं खाने के लिए नहीं गया। वहीं अपने मन से पुरोहित का आसन ग्रहण कर मैंने सुशीला की गुड़िया का विवाह कराया और वर-वधू को अन्तः-करणसे आशीर्वाद दिया। पार्वती खड़ी देख रही थी। विवाह हो जाने पर दक्षिणा-स्वरूप उसने हँसते-हँसते मुझे एक दूसरा रूमाल दिया। जब मैं खा-पी कर बाहर के कमरे में आया तब मैंने सन्दूक खोल कर अपना पुराना रूमाल निकाला। फिर मैंने अतीत और वर्त्तमान को एकही सूत्र में बाँध दिया। इसके बाद भगवान् की प्रार्थना कर मैंने ऊपर आकाश-मण्डल पर दृष्टिपात किया, देखा कि अनन्त के वक्षस्थल पर द्वितीया का बालचन्द्रमा हँस रहा है।

छाया

जो बात तर्क-सम्मत नहीं उस पर विश्वास नहीं करना चाहिए। विद्वानों की यही राय है। इसीलिए मैं अपने जीवनकी इस घटनाका हाल किसीको नहीं बतलाता। मैं जानता हूँ कि यह तर्क का सामना नहीं कर सकती। यदि मैं किसी से अपने जीवन का हाल कहने बैठूँगा तो वह अपने तर्क-शास्त्रके द्वारा मेरे जीवनकी थाह लेने लगेगा। क्या यह सम्भव है? उसके इस प्रश्नका उत्तर मैं कैसे दूँ? यह बात सम्भव नहीं, यह तो हो गई है। यदि तुम विश्वास नहीं करना चाहते तो मत करो। पर इसमें सन्देह नहीं कि तर्क-शास्त्र जीवन का रहस्योद्धार नहीं कर सकता। मनुष्यों के जीवन में ऐसी बातें भी हुआ करती हैं जो किसी प्रकार समझाई नहीं जा सकतीं। सच तो यह है कि जो घटनायें हमारे जीवन पर चिरस्थायी प्रभाव डालती हैं, जिनसे हमारे भविष्य भाग्य का निश्चय होता है, उन्हें हम

अपनी बुद्धि से जानही नहीं सकते। समुद्र की तरङ्ग के समान वे न जाने कहाँ उठती हैं और किधर जाती हैं। पर उनसे धक्का खाकर हमारे जीवन की क्षुद्र नौका भव-सागर में डूबने उतराने लगती है। मैं तो यह मानता हूँ कि हम लोगों के जीवन में कोई अदृष्ट शक्ति काम कर रही है। आप चाहे उसे दैव कहें या कुछ और कहें। पर उसी के चक्र में पड़कर सारा संसार घूम रहा है। उसकी उपेक्षा करना हमारे सामर्थ्य से बाहर की बात है। कौन जानता था कि शशिकला मेरे जीवन की सहचरी होगी। पर उसी अज्ञात शक्ति से प्रेरित होकर मैंने उसका पाणि-ग्रहण किया। अन्तमें उसी शक्तिकी प्रेरणा से......किन्तु वह हाल तो मैं पीछे कहूँगा, पहले मैं अपने विवाह की ही बात कहूँगा।

पिताजी का स्वर्ग-वास होने पर मैं इलाहाबाद चला आया। उन दिनों यहाँ स्वदेशी-आन्दोलन की खूब धूम थी। मैंने भी स्वदेशीव्रत धारण किया। पिताजी मेरे लिए अच्छी सम्पत्ति छोड़ गये थे। मुझे कमाने-खाने की फ़िक्र थी ही नहीं। इसलिए मैं इलाहाबाद के सभी सार्वजनिक कार्यों में सम्मिलित होने लगा, थोड़ेही दिनोंमें मेरा नाम सर्वत्र प्रसिद्ध हो गया।

बुधवार का दिन था और पूर्णिमाकी रात्रि थी। चन्द्रमा के उज्ज्वल प्रकाश में पृथ्वी हँस रही थी। वसन्तकाल की पवन धीरे-धीरे बह रही थी। मैं सेवा-समिति के वार्षिक अधिवेशन से घर लौट रहा था। गाड़ी मैंने लौटा दी थी, इसलिए पैदल जा

रहा था। कह नहीं सकता कि मैं किस विचार में डूबा हुआ था।
पर एकाएक किसीकी आवाज़ कान में पड़ते ही मैं चौंक पड़ा।
सिर उठाकर देखा, सामने एक घरके दरवाज़े पर एक लड़की
खड़ी हुई थी। लड़की के मुखपर विषाद की गहरी छाया थी,
जिसे देखकर न जाने क्यों मैं पीड़ित हो गया। मैंने उससे कहा,
"आपने शायद मुझे पुकारा है।"

लड़कीने कहा "हाँ, क्या आप थोड़ा कष्ट उठावेंगे ?"

मैं—कहिए।

लड़की—पासही डाक्टर सुशीलचन्द्र रहते हैं, उन्हें कृपा
कर यह चिट्ठी दे आइए, कह दीजिएगा, शीघ्र आनेकी कृपा
करें।

लड़कीने ये बातें बड़ी धीरता से कहीं। मैं सुनकर चकित
होगया। उसके हाथ से चिट्ठी लेकर मैं डाक्टरसाहब के घर की
खोज में निकला। घर ढूढ़ने में तकलीफ़ नहीं हुई। डाक्टर साहब
को उस मुहल्ले में छोटे बड़े सभी जानते थे। नौकर को पुकार कर
मैंने उसके हाथ डाक्टर साहब के पास चिट्ठी भेजदी। डाक्टर साहब
पाँचही मिनटमें नीचे उतरे, मुझसे कहा "आप ज़रा बैठिए,
मैं अभी आपके साथ चलता हूँ।" मैं बैठ गया, थोड़ी देर में
डाक्टर साहब ज़रूरी सामान लेकर मेरे साथ रवाना हुए। दर-
वाज़े पर वह लड़की खड़ी हुई मिली। डाक्टर साहबने पूछा
"शशि, कैसी तबीयत है ?"

लड़कीने कहा "आप चलकर देखिए।"

डाक्टर साहब ऊपर चले गये, मैं बाहर कमरेमें बैठा रहा, थोड़ी देरमें शशिकला (उस लड़की का यही नाम था) नीचे आई और मुझसे कहने लगी, "आप ऊपर जाइए, डाक्टर साहब आपको बुला रहे हैं।"

मैंने ऊपर जाकर देखा कि, डाक्टर साहब एक अर्द्धमूर्च्छित पुरुषकी सेवामें लगे हुए हैं। उन्होंने इशारेसे मुझसे सहारा देनेके लिए कहा। मैंने तुरन्तही उनका आज्ञा-पालन किया। डाक्टर साहब ने रोगी का मुख खोल कर दवा पीलादी, फिर उसे लेटा कर मुझे बैठने के लिए कहा। पासही एक कुर्सी पड़ी हुई थी। मैं उसीपर बैठ गया। पूछे जाने पर मैंने उन्हें अपना परिचय दिया। डाक्टर साहब मेरे पिता के मित्र निकले, तब तो वे बड़े प्रेम से बातचीत करने लगे। हमलोग रात भर बैठे रहे। जब रोगी को अच्छी तरह चैतन्य हो गया और किसी तरह का डर नहीं रहा तब मैं घर लौटा। इस प्रकार पहले पहल शशिकलासे मेरा परिचय हुआ। उस दिन से मैं प्रतिदिन शशिकला के घर जाने लगा। रोगी को मैंने पहले शशिकला का पिता समझा था, पर घनिष्ठता बढ़ने से मालूम हुआ कि वे उसके पिता नहीं, धर्म्म-पिता हैं। एक दिन चंगे हो जाने पर हरिनन्दन बाबूने मुझे शशिकला का पूरा जीवन-वृतान्त सुनाया। उससे मालूम हुआ कि शशिकला की माता, जब शशिकला गर्भमें थी तभी हरिनन्दनबाबू के घर आगई थी। उस समय हरिनन्दनबाबू की स्त्री जीवित थी। उसने शशिकला को मा को बड़े प्रेम से रक्खा। उसको इतना

पता तो लग गया कि वह अपने पति के बुरे व्यवहार से चली आई है। परन्तु उसका पति है कौन, कहाँ रहता है, यह सब हाल उसने पूछाही नहीं, इसके बाद शशिकलाका जन्म हुआ। इसके छः ही दिनोंके बाद उसकी माता की मृत्यु हो गई। हरिनन्दनबाबू के कोई सन्तान नहीं थी। इसलिए उनकी स्त्रीने शशिकला को अपनीही कन्या मानकर उसका लालन-पालन किया। जब शशिकला ग्यारह वर्ष की हुई तब हरिनन्दनबाबू की स्त्री का भी देहान्त हो गया। तबसे घर का सारा काम शशिकला ही सँभालती है।

शशिकला का यह जीवन-वृत्तान्त सुन कर मेरा मन उसकी ओर और भी आकृष्ट हुआ। इसमें सन्देह नहीं कि पहले मेरे हृदय में उसकी ओर सहानुभूति ही का भाव था, परन्तु धीरे-धीरे प्रेमने सहानुभूति का स्थान लेलिया। मैंने उसके साथ विवाह करना निश्चय कर लिया। जब मैंने हरिनन्दनबाबू से विवाह का प्रस्ताव पेश किया तब वे क्षण भर चुप रह कर बोले "देवेन्द्रबाबू, मैं सच कहता हूँ, शशिकला साक्षात् लक्ष्मी है। परन्तु उसके जीवन के इस गुप्त भेद ने उसको इस योग्य नहीं किया है कि वह आपकी सहचरी हो सके। आपका वंश कुलीन है। शायद आपके बन्धु-बान्धव इस विवाह का विरोध करें।"

पर मेरे ऐसे बन्धु-बान्धव नहीं थे जिनके विरोध को मैं परवा करता, इसलिए हरिनन्दनबाबू ने सहर्ष अनुमति दे दी। शुभ दिनमें मेरा विवाह हो गया।

इसके छः महीने बाद मुझे किसी कामसे कानपुर जाना पड़ा। मैं जब गाड़ीमें चढ़ा तब मेरे साथ एक वृद्ध महाशयभी चढ़े, वृद्ध इसलिए कहा कि उनके सब बाल सफेद हो गये थे। यों तो उनका शरीर खूब मज़बूत जान पड़ता था। चेहरे पर कान्ति थी। मुझे देखकर उन्होंने कहा—"आप कहाँ तक जायँगे?"

मैं—कानपुर जाऊँगा।

वृद्ध—अच्छी बात, मैं भी कानपुर जा रहा हूँ। आपका घर कानपुर में ही है?

मैं—नहीं साहब, मैं इलाहाबाद में ही रहता हूँ।

वृद्ध—वहीं आपका जन्मस्थान है?

मैं—जी नहीं, जन्मस्थान तो मेरा बसन्तपुर है।

वृद्ध—बसन्तपुर! आप लाला विश्वम्भरदयाल को जानते हैं?

मैं चौंक पड़ा, क्योंकि यह तो मेरे पिता का नाम था।

मैंने कहा—जी हाँ, वे तो मेरे पिता थे।

वृद्ध—अच्छा! आपके पिताजी मेरे बड़े दोस्त थे। उनका और मेरा विवाह एक ही दिन हुआ था, चैत्र सुदी पञ्चमी बुधवार संवत् १९५०।

मुझे कुछ हँसी आ गई। शायद ही किसी शिक्षित पुरुष को अपने विवाह की तिथि और संवत् याद रहता हो। वृद्ध महाशय कुछ देर तक चुप रहे। न जाने क्या सोचने लगे। फिर बोले—"आपका नाम?"

मैं—देवेन्द्र कुमार।

वृद्ध—देखिये, कानपुर में आपको मेरे यहाँ ठहरना पड़ेगा मेरी स्त्री बसन्तपुर के सभी लोगों को जानती है। वह उनका हाल जानने के लिए हमेशा उत्सुक रहती है। आपके पिता को वह अच्छी तरह पहचानती है। उनके विषय में मुझ से उसने कई बार बातें की हैं। आपको देख कर उसे बड़ी प्रसन्नता होगी।

वृद्ध ने ये सब बातें इतने आग्रह से कहीं कि मैं उसके अनुरोध को टाल न सका। रास्ते में वह अपनी स्त्री की ही बातें करता रहा। उसकी बातचीत से मैं इतना समझ गया कि वह अपनी स्त्री के रूप और गुणों पर बेतरह मुग्ध है। उस समय न जाने क्यों मुझे अपनी शशिकला की याद आ गई।

कानपुर पहुँचने पर मैं वृद्ध के साथ बाहर आया। बाहर एक मोटर खड़ी थी। उसी के पास एक नौकर खड़ा था। वृद्ध को देखते ही उसने सलाम किया। मैं समझ गया कि मोटर उसीकी है। हम दोनों मोटर पर बैठ कर रवाना हुए थोड़ी ही देर में मोटर एक बड़ी अट्टालिका के सामने जाकर खड़ी हो गई। हम लोग मोटर से उतर कर भीतर गये। बाहर कमरे में एक दासी खड़ी थी। वृद्ध के साथ मुझे देख कर वह चकित हो गई, पर बोली कुछ नहीं।

वृद्धने उसकी ओर देखकर कहा, "विमला, भीतर सुशीला को खबर दे दो कि बसन्तपुर के लाला विश्वम्भर दयालु के लड़के देवेन्द्रकुमार आये हैं।" विमला ने मेरी ओर करुण-

दृष्टि से देखा। मैं जान नहीं सका उसका मतलब क्या था। वह भीतर चली गई। इसके बाद वृद्ध ने मुझे नहाने-धोनेका कमरा बतलाया। मैं नहा-धोकर स्वस्थचित्त से एक आराम-कुर्सी पर बैठ कर वृद्ध के आतिथ्य-सत्कार का आयोजन देखने लगा।

थोड़ी देर के बाद वृद्ध महाशय आये और मुझे भीतर ले गये। दासी बाहर खड़ी हुई थी। जब मैं भीतर जाने लगा, उसने फिर मेरी ओर करुण-दृष्टि से ताका। उसने कुछ इशारा भी किया, पर मैं समझ न सका। एक कमरे के भीतर जा कर देखा कि एक ग़लीचे पर चाँदी की तश्तरी में कुछ मिठाई रक्खी है, एक और तश्तरी में मेवे रक्खे हैं, पास ही एक दूसरा ग़लीचा बिछा हुआ था। पर कमरे में कोई था नहीं, वृद्ध महाशय ने मुझे भीतर ले जाकर कहा, "सुशीला, यही देवेन्द्र कुमार हैं।"

मैंने सुशीला को देखने के लिए सिर उठाया, पर कमरे में कोई नहीं था। मैं चकित होकर वृद्ध की ओर देखने लगा कि वह किससे बातें कर रहा है। पर वृद्ध ने मेरी अकचका-हट का कुछ भी ख़याल न कर फिर कहा, "हाँ, यही लाला विश्वम्भरदयालु के लड़के हैं, मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि तुम इन्हीं के जन्मोत्सव में विश्वम्भरदयालु के घर न्योते में गई थीं। पच्चीस वर्ष हो गये।" फिर मेरी ओर लौट कर बोले "क्यों देवेन्द्र बाबू, आपकी उम्र पच्चीस ही वर्ष की होगी?"

मैंने कहा—"जी हाँ।" पर मैं विस्मित था कि यह बूढ़ा

सनक तो नहीं गया है। यहाँ तो कोई है नहीं, बातें किससे कर रहा है। इतने में दासी आ गई। उसने मेरी ओर उसी दृष्टि से देख कर कहा, "आप अब जलपान कीजिए।" फिर शून्यस्थान को देख कर कहा, "बाईजी, आपका पान-दान ले आऊँ।" इतना कह कर वह चली गई। मैं तब सब बातें समझ गया। जान पड़ता है, इस वृद्ध की स्त्री का देहान्त हो गया और यह अपनी कल्पना से उसकी मूर्ति गढ़कर उससे बातें किया करता है। उसको यह कल्पित-छाया सर्वथा सत्य प्रतीत होती है। उसको इसी में सुख है, इसीलिए दासी भी उसकी कल्पना को भङ्ग करना नहीं चाहती। अभीतक मैं वृद्ध के इस विलक्षण व्यवहार को देखते समय बड़ी मुश्किल से अपनी हँसी रोके हुए था। पर अब उसका यह प्रेमाधिक्य देख कर मेरी आँखों में आँसू भर आये। इतने में दासी मुझे फल देने आई। मौका पाकर उसने धीरे से कहा, "आज सोलह वर्ष हुए बाईजी की मृत्यु हो गई, पर उसको इसी में सुख है।" इतना कह कर वह चली गई, मैं भी तब उस वृद्ध की कल्पित छाया से बातें करने लगा।

जलपान करने के बाद जब मैं हाथ मुँह धोकर बाहर कमरे में आया तब दासी ने मुझे वृद्धके अतीत जीवनकी कथा कही। विवाह होने के बाद एक दिन एक छोटी सी बात पर उसने अपनी स्त्री को खूब भला-बुरा कहा। यहाँ तक कह दिया कि अब मैं तेरा मुँह नहीं देखूँगा। स्त्री भी अभिमानिनी थी।

वह घर छोड़ कर चली गई। तब वृद्धको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अन्त में वह बीमार पड़ गया, बीमारी में ही मस्तिष्क की उत्ते-जना से उसे ऐसा मालूम हुआ कि उसकी स्त्री लौट आई है। तब से आजतक उसकी यही धारणा बनी हुई है।

इसके बाद वृद्ध महाशय भी हँसते हुए बाहर आये। मुझसे कहा, "एक बात का मुझे बड़ा आश्चर्य है।"

मैंने पूछा—"कौनसी बात ?"

उसने कहा—"देखिए, पन्द्रह वर्ष पहले मेरी स्त्री जैसी थी वैसी ही वह आज तक बनी है। मैं आप को बीस वर्ष पहले का उसका चित्र दिखलाता हूँ। आप खुद देख लेंगे कि उसके तब के चेहरे और अबके चेहरे में थोड़ा भी अन्तर नहीं आया है।

इतना कह कर उसने ड्रायर से एक चित्र निकाल कर मेरे हाथ में दिया। चित्र देखते ही मैं चौंक पड़ा, क्योंकि वह तो मेरी शशिकला के चेहरे से बिलकुल मिलता था। मैं जान गया कि यही मेरी शशिकला के पिता हैं। न जाने किस अल-क्षित शक्ति की प्रेरणा से मैं कानपुर आया कि आज मेरी शशि-कला के जीवन का गुप्त भेद प्रकट हो गया। मैंने वृद्ध से तो कुछ नहीं कहा, पर दासी से सब हाल कह दिया।

दासीने कहा "अब तो बड़ी मुश्किल है, यह हाल इसको किस तरह समझाऊँ। खैर! आप शशि-कला को ले आइये मैं कोई उपाय सोच लूँगी। मैंने इलाहाबाद आकर शशि-

कला से सब वृतान्त कहा। शशिकला भी कानपुर आई। तब दासीने वृद्धसे कहा, "आपको एक खुश-खबरी सुनाऊँगी।"

वृद्धने पूछा—क्या?

दासी—बाईजी ने आज अकेले में बुलाकर कहा कि जब वे आपसे झगड़ कर चली गई थीं तब उनको एक लड़की हुई थी उसको तो उन्होंने छिपा रक्खा था, आज बतलाया है।

वृद्धने खुश होकर पूछा—वह लड़की कहाँ है?

दासी—उसका विवाह देवेन्द्रकुमार के साथ हुआ है। वह आज अपने पति के साथ आई है। कहिए तो बुला लाऊ।

वृद्धने कहा—अभी बुला लाओ।

पिता और पुत्री का मिलन हुआ। वृद्ध को कितनी प्रसन्नता हुई, मैं कह नहीं सकता।

इसके बाद मेरी शशिकला के मुख पर फिर कभी विषाद की छाया नहीं दिखाई पड़ी और वृद्धने अपना जीवन छाया के ही साथ काट दिया।
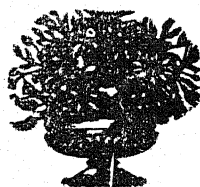
एकरात्रि

रात के सात बजे राजनाँदगाँव के स्टेशन पर रघुनाथ उतर पड़ा। उस समय यदि कोई भी उसे देखता तो उसको यह विश्वास कभी नहीं होता कि यह वही रघुनाथ है जिसका नाम सुन कर पुलिस के अच्छे-अच्छे जवान काँप उठते हैं। रघुनाथ ने बीसों बार मध्यप्रदेश में डाके डाले, पर वह कभी नहीं पकड़ा गया। उसने दो बार तो पुलिस-स्टेशन पर भी हमला कर पुलिस वालों के छक्के छुड़ा दिये। उसके कारण कितने ही खाँ साहबों की नाक कट गई। उसे पकड़ने के लिये बड़ी-बड़ी तदबीरें की गईं। इश्तिहार निकाला गया कि जो कोई उसे पकड़ा देगा उसे पाँच हज़ार रुपये मिलेंगे। पर पकड़ा देने की बात तो दूर रही, किसी को उसका कुछ पता तक नहीं लगा। जिस रघुनाथ के लिए पुलिस इतनी हैरान है वह जब राजनाँदगाँव के स्टेशन पर उतरा तब इतना क्षुद्र प्रतीत हुआ कि किसी ने उस पर दृष्टिपात

तक नहीं किया। उम्र २५, २६ साल से अधिक न रही होगी एक मैला, काला कोट शरीर पर था। धोती भी खूब मैली थी। जूता फटा हुआ था। सिर पर साफा बँधा हुआ था। हाथ में एक छोटी सी गठरी थी। स्टेशन से बाहर आकर वह मुसाफिर ख़ाने में ठहर गया। बैठे-बैठे वह न जाने क्या सोचता रहा। कुछ देर के बाद उसकी चिन्ता टूटी और उसने ऊपर सिर उठाया। सामने दीवाल पर एक बड़ा इश्तिहार चिपका था।

नइाम ।

पाँच हज़ार ५०००)

उस शख्स को जो रघुनाथ डाकूको पकड़ा देगा।

दस्तखत—विनायक विश्वनाथ वैद्य

दीवान, राजनाँदगाँव ।

इश्तिहार पढ़ कर रघुनाथ मुस्कुराने लगा। पर क्षण ही भर में उसकी मुस्कुराहट दूर हो गई और चेहरा मलीन हो गया। पास ही एक आदमी पान बेच रहा था। उससे पूछा, "क्यों भाई, ये वैद्य साहब कौन हैं? रायपुर के तो नहीं है?"

पानवाला—हाँ साहब, वही तो हैं। विश्वनाथ राव वैद्यके तीन लड़के हैं, सबसे छोटे हमारे वैद्य साहब हैं। दो लड़कियाँ हैं। एक का विवाह पूना में हुआ है। दूसरी का विवाह अभीतक नहीं हुआ है।

रघुनाथ—देखता हूँ, आप उन्हें अच्छी तरह जानते हैं।

पानवाला—हाँ साहब, अच्छी तरह। मैं तो उनके यहाँ चार साल तक नौकर था।

रघुनाथ ने फिर कुछ न पूछा, सबसे अलग एक अन्धेरे कोने में बैठ कर वह अपने अतीत जीवन की बातें सोचने लगा।

जब रघुनाथ स्कूल में पढ़ता था तब उसका एक ही साथी था। उसका नाम था विनायक राव। दोनों एक साथ रहते, एक साथ पढ़ते, एक साथ घूमने जाते। एक दिन किसी खेल में कोई लड़का विनायक को मारने दौड़ा। रघुनाथ उस लड़के से भिड़ गया। इसके बाद उन दोनों की मित्रता और भी दृढ़ हो गई। एक दिन रघुनाथ ने विनायक से कहा, "भाई, अभी तुम छोटे हो, कभी तुम बड़े आदमी हो जाओगे, कहीं के दीवान होगे, उस समय क्या तुम मुझ पर दया करोगे?" विनायक राव ने कहा, "क्या बक-बक करते हो।" परन्तु आज—आज वही विनायक राव उसे भूल नहीं गया, उसके प्राणों का ग्राहक बन गया है। वह इसके लिए पाँच हज़ार रुपये तक देने को तैयार है। यही मनुष्यत्व है। विपत्ति में कोई किसी का साथ नहीं देता। यदि आज रघुनाथ भी बड़ा आदमी होता तो यही विनायक उससे अपना बन्धुत्व बतलाता।

यह सोचते-सोचते रघुनाथ का शरीर क्रोध से काँपने लगा। जिस प्रतिहिंसा के भाव ने उसे डाकू बना रक्खा था वही

भाव उसके हृदय में फिर प्रबल रूप से जाग्रत हो उठा। वह मन ही मन में कहने लगा, "आज १५ वर्षों से मैं मनुष्यमात्र का शत्रु बन कर घूम रहा हूँ। यह सच है कि मैं नीच हूँ। पर मुझे नीच किसने बनाया? यदि कोई भी मुझे सहायता देता तो आज मैं भी कुछ का कुछ हो गया होता। पर सब मुझसे घृणा करने लगे। सभी मेरा तिरस्कार करने लगे। जो मेरे मित्र थे उन्होंने मुझ से मुँह मोड़ लिया। ख़ैर! आज मैं बदला लूँगा। विनायक को भी बतलाऊँगा कि यदि तुम मेरे प्राणों के ग्राहक हो तो मैं भी तुम्हें इसका उचित फल दूँगा।

टन-टन कर आठ बज गये। रघुनाथ उठ खड़ा हुआ। उसने सोचा, "अभी आठ ही बजे हैं। जाकर वैद्य साहब से मिलूँ। अब यह जीवन असह्य हो गया है। कब तक मारा-मारा फिरूँगा। जो कुछ मुझे करना है आज कर डालूँगा। अब अधिक जीने की लालसा नहीं है।" यह सोच कर रघुनाथ तुरत ही वहाँ से रवाना हुआ। स्टेशन से थोड़ी दूर पर राव साहब का बँगला था। पहुँचने पर रघुनाथ सोचने लगा, "मैं क्या कह कर उसके पास ख़बर पहुँचाऊँगा। रघुनाथ तो मेरा कल्पित नाम है। मैं अपने असली नाम रघुवीर शरण से ही ख़बर पहुचाऊँगा। देखूँ, क्या कहता है।"

फाटक पर एक सिपाही खड़ा था। उसने रघुनाथ से पूछा, "क्या चाहिए?" रघुनाथ क्षण भर रुक कर बोला, "जाकर राव साहब को ख़बर दो कि उनका बाल्य-सखा रघु-

वीर शरण उनसे मिलने के लिए आया है।" सिपाही ने एक बार रघुनाथ को सिर से पैर तक देखा, पर उसने कहा कुछ नहीं। तुरन्त भीतर जाकर ख़बर दी। रघुनाथ का हृदय धड़क रहा था। थोड़ी ही देर में सिपाही के साथ रावसाहब बाहर आये, बोले "कौन भैया रघुवीर शरण! आओ, आओ आज कितने दिनों के बाद तुमसे भेंट हुई।" यह कह कर राव साहब ने रघुनाथ को गले लगा लिया और फिर उसका हाथ पकड़ कर भीतर ले चले। रघुनाथ मन्त्र-मुग्ध की तरह उनके साथ-साथ चला। सोचा, शायद यहाँ अन्धेरे में मुझे पहचान न सका। पर कमरे के भीतर ले जा कर राव साहब ने बड़े आदर से रघुनाथ को कुर्सी पर बैठा कर कहा, "एक मिनट में आता हूँ।" इतना कह कर राव साहब भीतर गये, रघुनाथ चकित होकर सोचने लगा, यह क्या बात है। शायद यह भी उसकी चालाकी है। खैर! देखूँ, क्या चालाकी करता है। इतने में एक नौकर आकर रघुनाथ को भीतर ले गया। गर्म पानी तैयार था। जब रघुनाथ नहा-धोकर बाहर निकला तब नौकर ने उसे साफ़ कपड़े पहनने के लिये दिये। कपड़े पहन कर रघुनाथ फिर उसी कमरे में आया। राव साहब बैठे उसकी प्रतीक्षा कर रहे थे। इसके बाद दोनों भीतर गये। रसोई तैयार थी। दोनों एक ही साथ खाने बैठे। खूब हँसी-दिल्लगी होती रही।

रघुनाथ क्षण भर के लिए बिलकुल भूल गया कि वह रघु-

नाथ है। जब खा-पीकर रघुनाथ फिर उस कमरे में आया तब उसने कहा, "शायद आप मुझे पहचान न सके।"

रावसाहब—मैं खूब पहचानता हूँ। तुम मेरे मित्र रघुवीर शरण हो, इससे अधिक जानने की ज़रूरत भी मुझे नहीं है।

रघुनाथ—आप शायद रघुनाथ को जानते होंगे।

रावसाहब—उसका नाम मत लो, उसकी बात मत करो। तुम जानते हो, मैं रघुनाथ का सब से बड़ा शत्रु हूँ। रघुनाथ चुप हो गया। कुछ देर के बाद उसने कहा, "मैं अब जाऊँगा।"

रावसाहब ने "अच्छी बात है" कह कर नौकर को गाड़ी तैयार करने के लिए कहा। फिर एक आलमारी खोल कर उससे दो हज़ार रुपये के नोट निकाले और उन्हें एक थैली में बन्द कर रघुनाथ के हाथ में दिया, फिर कहा, "इसका सदुपयोग करना।" रघुनाथ की आँखों में आँसू भर आये। उसने गद्गद् कण्ठ से कहा, "मेरी एक बात सुनो।"

रावसाहब बोले—"मैं तुम्हारी एक भी बात नहीं सुनूँगा। जान रक्खो कि यदि मुझे रघुनाथ मिल जायगा तो मैं उसे कठोर दण्ड दूँगा।"

रघुनाथने राव साहब का हाथ पकड़ कर कहा, "मित्र, तुम उसकी चिन्ता मत करो। आज रघुनाथ मर गया। अब उसे कोई नहीं देखेगा।"

इतने में नौकर ने कहा, "गाड़ी तैयार है।" रघुनाथ वहाँ से रवाना हुआ।

——

अन्त।

कामिनी घर का द्वार खोल कर बाहर देखने लगी। सन्ध्या हो गई थी। आकाश मेघाच्छन्न था। सूर्य की म्रियमाण लालिमा मेघों का आवरण दूर करने की व्यर्थ चेष्टा कर रही थी। पक्षियों का एक दल न जाने किस आशा से मुग्ध होकर अनन्त आकाश में उड़ रहा था। नीचे पृथ्वी पर, दो चार गाय-बैल चुपचाप खड़े हुए इधर-उधर ताक रहे थे। एक स्त्री सिर पर लकड़ी का गठ्ठा लिये चली आ रही थी। कामिनी ने फिर दूसरी ओर दृष्टि फेरी। पथ बिलकुल शून्य था। तो भी कामिनी सतृष्ण नेत्रों से उधर देखती रही। शायद उसका पति·········छिः, कामिनी का कोई पति नहीं है। वह सधवा होकर भी विधवा है। जिसने उसे धोखा दे कर, उसका सर्वस्व नष्ट कर, उसे भिखारिणी बना कर, उसकी यह दुरवस्था कर दी, वह क्या उसका पति-देव है? नहीं, कामिनी ने प्रतिज्ञा कर ली है कि अब वह

अपने पति का मुख नहीं देखेगी, वह सधवा होकर भी विधवा बनी रहेगी। परन्तु कभी वह भी एक दिन था जब कामिनी इसी तरह उत्कण्ठित हो कर दरवाज़े पर खड़ी-खड़ी अपने पति के आने की राह देखती और जब वह आता तब वह कितने आनन्द से उसका स्वागत करती। उसका पति उस समय उसे कितना प्यार करता था। यह सब उसकी मौसी का काम था; नहीं तो उसका पति कामिनी को छोड़ कर, उसे अनाथिनी बना कर दूसरा विवाह न करता। यदि कभी मौका मिलेगा तो कामिनी बतला देगी कि वह कैसी स्त्री है।

दरवाज़े पर खड़ी-खड़ी कामिनी यही बात सोच रही थी कि, उसकी दृष्टि एक आदमी पर पड़ी, जो बडी तेज़ी से दौड़ता हुआ उसी की ओर चला आरहा था। यद्यपि वह आदमी अभी दूर था तो भी कामिनी उसे पहचान गई। क्षण भर के लिए उसका मुख लाल होगया। फिर तुरन्त ही वह पीला पड़ गया। कामिनी का हृदय ज़ोर से धड़कने लगा। उसने दरवाज़े से हटजाने की चेष्टा की, पर उसके पैर हटे नहीं। पत्थर की मूर्त्ति की तरह वह चुपचाप खड़ी रही।

वह आदमी बिलकुल पास आगया। कामिनी ने देखा, उसके पैर लड़खड़ा रहे थे। चेहरे पर आतंक छाया हुआ था। पहले तो उसने कामिनी को देखा नहीं। पर ज्योंही कामिनी पर उसकी दृष्टि पड़ी त्योंही घबड़ा कर वह खड़ा होगया और बोला, "कौन' कामिनी! हां, यह तुम्हारा ही घर है। मैं

भूल गया था।" इतना कह कर वह आगे बढ़ा, दो क़दम चल कर वह रुक गया। फिर आगे बढ़ा, फिर रुका। अन्तमें वह लौट कर फिर कामिनी के पास आया, कहने लगा, "कामिनी, यदि तुमसे कोई पूछे कि मैं किधर गया तो तुम मत बतलाना।" कामिनी कुछ डर गई, पूछने लगी "क्यों ?" वह कुछ कहते-कहते रुक गया, फिर बोला, "देखो, मैं तुम्हारा पति हूँ। तुम क्या मेरी जीवन-रक्षा न करोगी ?"

कामिनी ने घबड़ा कर कहा—"क्या बात है, कुछ कहते क्यों नहीं ?"

वह कुछ सोचता रहा। कुछ देरके बाद पूछा, "तुम्हारे पिता घर में हैं ?"

कामिनी—नहीं, वे शृङ्गारपुर गये हैं।

वह—कामिनी, मेरे कारण तुम्हें सदा दुःखही भोगना पड़ा। जब तक तुम मेरे साथ रहीं तब तक तुम्हें कभी सुख न मिला। परन्तु आज मैं तुमसे एक भीख माँगता हूँ, दोगी ?

कामिनी—क्या बात ?

वह—मैं बड़ी विपत्ति में फँसा हूँ। पुलिस मेरे पीछे लगी हुई है। मुझे एक रात अपने यहाँ छिपाकर रख लो। कल मैं कहीं भाग जाऊँगा।

कामिनी कुछ सोचने लगी।

कामिनी को चुपचाप देख कर वह फिर गिड़गिड़ा कर कहने लगा, "कामिनी, मुझे बचा लो। रात भर मुझे रखलो

तुम्हारे घरमें कोई मुझे ढूँढ़ने नहीं आवेगा; क्योंकि सब जानते हैं कि तुम्हारे पिता मुझ से कितना सख़्त नाराज हैं।

कामिनी ने कहा, "अच्छा भीतर चलो।"

वह कामिनी के पीछे-पीछे घर के भीतर घुसा।

कामिनी ने उसे लेजाकर अपने कमरे में बैठाया। कुछ ठण्ड से और कुछ डर से वह काँप रहा था। कामिनी ने फुरती से आग जलाकर उसके सामने धर दी। वह बैठ कर तापने लगा।

कामिनी रसोई बनाने लगी। रसोई तैयार हो जाने पर उसे बुलाकर ले गई। खाते-खाते वह कहने लगा, "तुम ख़ूब अच्छी रसोई बनाती हो। मुँह देखी बात नहीं कहता।" कामिनी हँसने लगी। थोड़ी देर में दोनों बड़े प्रेम से बातें करने लगे। वर्तमान स्थिति को वे बिलकुल ही भूल गये। खा-पी लेने पर कामिनी ने उसके सोने के लिए बिस्तर तैयार कर दिया। थका हुआ तो वह था ही, बिस्तर पर लेटते ही उसे नींद आ गई।

पर कामिनी आग के पास बैठी ही रही। एक खूँटी पर उसका कोट टँगा था। कामिनी ने देखा, उसके बटन टूट गये हैं, दो एक जगह फट भी गया है। सुई-सूत निकाल कर वह उसे बैठी-बैठी दुरुस्त करने लगी

एक बज गया। कामिनी की छाती में दर्द होने लगा। उसे रह-रह कर यह बीमारी हो जाती थी। दो-दो

चार-चार दिन तक छाती में बेहद दर्द होता था। इसीलिये वैद्य ने काम करनेको बिलकुल मना किया था। यह भी कह दिया था कि परिश्रम करने से मृत्यु तक की सम्भावना है। कामिनी ने कोट को दुरुस्त कर टाँग दिया और फिर ज़मीन ही पर लेट गई। चार बजे उसकी नींद टूट गई। उसने तुरत ही अपने पति को उठाया। वह उठ बैठा। हाथ मुँह धोकर वह नित्य कर्मों से निवृत्त हुआ। कामिनी ने रात में ही उसके लिए कुछ खाने की चीज़ें तैयार कर दी थीं। जल्दी से खा-पी कर वह भागने के लिए तैयार हुआ। दोनों पिछ-वाड़े-दरवाज़े से बाहर निकले। अभी अंधेरा था ही। कामिनी उसे गांव के बाहर ले गई। पर अब एक नाला मिला। नाले में पूर आया था। वह पूर से बहुत डरता था। उसे पानी में धँसने की हिम्मत न हुई। उसने कामिनी से कहा "कामिनी अब कैसे करूँ, सवेरा हुआ ही चाहता है। अगर इस समय नहीं भाग सका तो फिर बचने का नहीं, मैं इतना तैरना भी नहीं जानता कि नाले को पार कर जाऊँ।" कामिनी सोचने लगी। क्षण भर के बाद बोली, "मैं तुम्हें पार ले जाऊँगी।"

वह चकित होकर बोला—तुम मुझे ले जासकोगी ?

कामिनी ने हँस कर कहा—अजमालो।

कामिनी ने अपने कपड़े ठीक किये, फिर अपनी कमर में एक रस्सी बाँधी और उसका एक छोर उसके हाथ में दिया

फिर वह नदी में कूद पड़ी। कूदते ही उसकी छाती में दर्द हुआ। पर वह दर्द की परवा न कर आगे बढ़ने लगी। दर्द असह्य हो गया। पर वह आगे बढ़ती ही गई। किसी तरह किनारे तक वह अपने पति को खींच ले गई। किनारे के एक वृक्ष के सहारे वह टिक कर बैठ गई और अपने पति से कहने लगी, "अब तुम जल्दी भागो, सवेरा हुआ ही चाहता है।" वह बोला, "कामिनी, तुमने आज मेरी प्राण-रक्षा की, मैं यह कभी न भूलूँगा। हो सकेगा तो…पर कामिनी ने उसे हाथ से, जाने के लिए इशारा किया। वह चला गया। उसके जाते ही कामिनी लेट गयी। आँखों के आगे अँधेरा छाने लगा।

× × × ×

दूसरे दिन कामिनी के बाप ने आकर देखा कि कामिनी का मृत शरीर पड़ा हुआ है; परन्तु उसके अधरों पर हास्यकी रेखा बनी हुई है। कामिनी के बाप ने कहा, "जान पड़ता है कामिनी का अन्तकाल बड़ा सुखद था।"

एक घंटा।

मनुष्यों का ज्ञान-क्षेत्र कितना सङ्कुचित है। संसारकी बातें तो जानना दूर रहा, हम अपने ही जीवन की बातें नहीं जानते; यदि हम अपने जीवनही की सब बातें जान लें तो हम आश्चर्य से मुग्ध हो जायँ। कितनी घटनायें अलक्षित रूप से आती हैं और चली जाती हैं। उनका कुछ प्रभाव नहीं पड़ता। प्रातःकालीन समीर की तरह वे हमको अज्ञानावस्था में थपकी देकर चली जाती हैं। यह अज्ञान हमारे लिए अच्छा ही है। यदि हम में परोक्ष बातें जान लेने की दिव्य शक्ति हो जाय तो हम क्षण भर के लिए भी निश्चिन्त न बैठ सकें। सम्पत्ति और विपत्ति का उत्थान-पतन देखते ही देखते हम घबड़ा जायँ। रघुनाथ के जीवन के एक ही घण्टे में कितनी बातें हो गईं, उन्हें वह खुद नहीं जानता। यदि वह जान सकता तो न जाने उसकी क्या दशा होती।

रघुनाथ ब्राह्मण का पुत्र, अल्प-शिक्षित अतएव दरिद्रता से ग्रस्त था। २० वर्ष की अवस्था में वह बिलकुल निराधार हो गया। शरीर हृष्ट-पुष्ट, गौरवर्ण मुख-मण्डल पर ग्राम्य-जीवन-सुलभ सरलता खेलती थी। गाँव में जीवन-निर्वाह का उपाय न देख कर उसने राजनाँदगाँव जाना निश्चय कर लिया। राज-नाँद गाँव व्यापार का केन्द्र हो गया है। वहाँ परिश्रमी लोगों के लिए जीविका का अभाव नहीं है। उसका मामा भी वहीं रहता है। यह सब सोच कर एक दिन उसने घर की सब चीज़ें बेच कर १०० रुपये एकत्र किये। दो चार कपड़े और कुछ ऐसी ही आवश्यक चीज़ों की एक गठरी बना कर वह घर से बाहर निकल पड़ा।

कुँआर का महीना था। आकाश शुभ्र था। पृथ्वी पर भी शुभ्रता फैली हुई थी। खेतों में किसान अपने-अपने कामों में लगे हुए थे। धीमी-धीमी हवा बह रही थीं, खेतों में काम करती हुई कुछ स्त्रियाँ गा रही थीं, "अगम पहाड़ बन बीहड़ बटोहिया, मोहि छाँड़ चले कहाँ आज रे बटोहिया।" जन्म-भूमि को छोड़ते हुए रघुनाथ के लिए यह वियोग-गान बहुत ही व्यथा-जनक था। उसने पीछे लौट कर एकबार अपने गाँव की ओर दृष्टि-पात किया। पर गाँव हरे-भरे झाड़ों से बिलकुल छिप गया था। अनन्त आकाशमें जाकर विलीन होनेवाली एक धूम्र-रेखा ही दिखलाई पड़ती थी। एक दीर्घ निःश्वास लेकर रघुनाथ आगे बढ़ा।

दो-तीन घण्टे तक चलने के बाद रघुनाथ कुछ थक गया। धूप भी कड़ी हो गई। रघुनाथ किसी तरह आगे बढ़ रहा था। पैदल चलने का उसे अभ्यास नहीं था। कुछ देर के बाद सूर्य की किरणें असह्य हो गईं। रघुनाथ बिलकुल थक गया। सड़क के किनारे दो-चार आम के पेड़ लगे हुए थे। उन्हींकी छायामें वह चला गया। नाला बह रहा था, पानी पी कर वहीं लेट गया। सोचा, इधर से कोई माल की गाड़ी निकलेगी तो उसी पर बैठ कर चला जाऊँगा। थका तो था ही, लेटते ही उसे नींद आ गई।

जब रघुनाथ निद्रित था, संसार जाग्रत था। बाह्य जगत् पर उसकी दृष्टि नहीं थी, पर उस पर जाग्रत की दृष्टि थी। कितने लोग उस पथ पर से आये और गये। कोई घोड़े पर, कोई गाड़ी पर और कोई पैदल ही। एक बार एक मोटर गाड़ी भी धड़-धड़ करती निकल गई। किसीने उस पर दृष्टि-पात तक नहीं किया। किसीने उसे देखकर भी नहीं देखा। कोई उसे शराबी समझ कर अपने साथी से शराबियों की दुर्गति का हाल बतलाता चला गया। कोई उसे दुर्भिक्ष-पीड़ित दरिद्र समझ कर वर्तमानकाल की दशा पर टीका-टिप्पणी करने लगा। योंही न जाने कितने लोग आये और गये। पर रघुनाथ उनकी निन्दा और सहानुभूति को समदृष्टि से सहता हुआ निश्चिन्त सोता रहा।

थोड़ी देर के बाद एक टाँगा आकर खड़ा हुआ। उसके

किसी चक्के की एक कील गिर गयी थी। टाँगे से दो स्त्री-पुरुष उतरे। दोनों की वृद्धावस्था थी। पुरुष की उम्र ६० वर्ष की और स्त्री की ५५ वर्ष की। जबतक गाड़ीवान चक्का सुधारने लगा तब तक वे दोनों उसी नाले के किनारे टहलने लगे। टहलते-टहलते उन दोनों की दृष्टि रघुनाथ पर पड़ी। रघुनाथ को देख कर स्त्रीने कहा, "देखो तो, कैसा सुन्दर लड़का है।"

पुरुष—कैसी नींद सो रहा है। मेरे भाग्य में यह कहाँ।

स्त्री—उठाऊँ ?

पुरुष—मत उठाओ। बेचारा थका हुआ सो रहा है।

स्त्री—कोई ग़रीब लड़का है। ब्राह्मण है। कहो तो इसे अपने साथ ले चलूँ। इसे देख कर मुझे अपने घनश्याम की सुधि आती है। यह कह कर स्त्रीने एक दीर्घ निःश्वास लिया।

वृद्धने कहा—जाने दो, न जाने किसका लड़का है।

स्त्री—जान पड़ता है, बेचारे का कोई नहीं है। नहीं तो सड़क पर क्यों सोता। तुम एक लड़का गोद में लेना चाहते हो। इसे ही क्यों नहीं ले लेते। कहो तो इसे उठाऊँ ?

भाग्यलक्ष्मी रघुनाथ पर हँस रही थी। पर वह चुपचाप पड़ा हुआ था। यदि वह जाग जाता तो कदाचित् वृद्ध उसे अपने साथ लिवा जाता; क्योंकि यह भी उसकी ओर स्नेहार्द्र दृष्टि से देख रहा था। वृद्ध ब्राह्मण था। राजनाँदगाँव के व्यवसायियों में सब से धनी वही था। पर रघुनाथ निश्चिन्त

सोता ही रहा! इतने में गाड़ीवान ने आकर कहा, "गाड़ी तैयार है।" दोनों वहाँ से रवाना हो गये।

इसके बाद दो आदमी आकर वहीं बैठ गये और बातचीत करने लगे।

एकने कहा,—"भाई मुश्किल से जान बची। कानिस्टबिल मुझको पकड़ ही चुका था।"

दूसरे ने कहा,—"तुम तो बड़ा भद्दा काम करते हो, ज़रा होशियारी से काम करते तो १०० रुपये हाथ आते।"

पहला—(रघुनाथ की ओर देखकर) अरे, यह कौन सो रहा है।

दूसरा—कोई मुसाफ़िर होगा।

पहला—यार, इसकी कमर में तो कुछ है।

दूसरा—देखूँ, सच कहते हो १००) से कम नहीं होगा। अच्छा माल मिला। देखो, कोई आता तो नहीं है।

पहला—(इधर-उधर देख कर) नहीं, कोई नहीं आता है। यही मौका है।

दूसरा—देखो, मैं छुरा निकाल कर इसकी गर्दन के पास बैठता हूँ। तुम इसकी कमर से रुपया निकाल लो। अगर यह जागा तो मैंने इसे ख़तम किया।

पहला—अच्छा।

रघुनाथ के लिये यह समय बहुत ही भीषण था। उसके प्राण सङ्कट में थे। पर वह निश्चिन्त सो रहा था। पहले

आदमीने छूरा निकाला ही था कि किसी के पैरों की आवाज़ आई। दोनों चुपचाप भाग गये और वहाँ एक लड़की आई। लड़की १४, १५ साल की रही होगी। रघुनाथ को देख कर वह लज्जा से खड़ी हो गई। इधर-उधर देखने लगी। कोई नहीं था। लड़की ने मन ही मन भगवान् से प्रार्थना की कि इसीके साथ मेरा विवाह हो। पर आगे कुछ न कह सकी। क्योंकि खड़-खड़ करती हुई एक गाड़ी आई। लड़की चुपचाप हट गई। गाड़ीवान ने रघुनाथ को सोते देख कर पुकारा, "अरे, कौन सोता है।" रघुनाथ की नींद पूरी हो गई थी। गाड़ीवान की आवाज़ से वह जाग पड़ा। आँखें खोलते ही गाड़ीवान को देखा। उससे पूछा, "क्यों भाई, कहाँ जाते हो?" गाड़ीवान ने कहा, "राजनाँदगाँव।" रघुनाथ ने कहा, "भाई, चार आने देंगे। हमें भी ले चलोगे?" गाड़ीवानने कहा "चलो।"

रघुनाथ निश्चिन्त होकर गाड़ी में बैठ गया।

लीला ।

संसार में जीवन मरण, सुख-दुख का चक्र बराबर घूमता रहता है। पर यह चक्र है क्या? लोग कहते हैं कि यही तो संसार है। हमारे लिए यही एक परम लाभ है कि हम क्षण भर यहाँ निःश्वास लेते हैं। जहाँ चञ्चलता की चमक की तरह जीवन क्षण भर उदित हो कर अस्त हो जाता है, हृदय की कामनायें हृदय में ही बनी रहती हैं, जहाँ सदा अपूर्णता है वहाँ रहने से लाभ क्या? विधाता के इस लीला-क्षेत्र में मनुष्यों को यह क्षणिक जीवन क्यों प्रदान किया गया है? तोभी विधि का यह विधान हम चुपचाप सह लेते हैं। न जाने किस आशा में पड़कर हम अपने हृदय में इष्ट जनों का यह अनन्त विच्छेद-भार लिए रहते हैं। एकबार मैंने विधाता के इस विषम चक्र का अनुभव किया था।

वसन्तपुर में मेरा एक मुक़दमा था। उसी के लिए मैं

वहाँ गया था! मेरी इच्छा थी कि मुक़दमा हो जाने पर मैं उसी दिन घर लौट जाऊँ। इसलिए चार बजते ही अपने मित्र के आग्रह को टाल कर मैं इक्के पर स्टेशन आया। यहाँ आने पर मालूम हुआ कि गाड़ी आने में आज दो घण्टे की देरी है। एकबार तो यह इच्छा हुई कि शहर लौट चलूँ। फिर सोचा, सामान तो कुछ है ही नहीं, दो घण्टे यों ही घूम-घाम कर काट लूँगा। यह सोचकर मैं स्टेशन से बाहर निकल कर घूमने लगा।

स्टेशन के आस-पास कितने ही छोटे-बड़े घर थे, पर उनमें एक ही पर मेरा ध्यान आकृष्ट हुआ। वह हलके नीले रङ्ग से रँगा हुआ था। उसी के बाहर पाँच वर्ष की एक लड़की खेल रही थी। बालिका के मुख पर शैशव-काल की सरलता स्पष्ट झलक रही थी। वह एक कुत्ते के साथ खेल रही थी। उसके हाथ में एक गेंद थी। वह गेंद को इधर उधर फेंकती और कुत्ता उसे दौड़-दौड़ कर उठा लेता। यद्यपि इस खेल में कोई विशेषता नहीं थी, तोभी मैं खड़ा-खड़ा देखता रहा। एक बार वह गेंद मेरी ओर फेंकी गई। कुत्ते के साथ वह भी दौड़ती आई, पर अब की बार गेंद नहीं मिली। तब उसने मुझसे पूछा, "आपने देखा है, मेरी गेंद किधर गई?" मैंने उठकर लड़की की गेंद ढूढ़ दी। उसकी आँखों में हर्ष की एक ज्योति-रेखा क्षण भर के लिए उदित हुई, फिर वह गम्भीर कालिमा में लीन हो गई। थोड़ी ही देर के बाद भीतर से

किसी ने पुकार कर कहा, "लीला!" लीला भीतर चली गई। मैं भी उठकर स्टेशन चला आया।

चार-पाँच वर्ष बाद एकबार मुझे फिर बसन्तपुर जाना पड़ा। स्टेशन के बाहर आते ही मेरी दृष्टि उसी हलके नीले रङ्ग से रँगे हुए मकान पर पड़ी। उसे देख कर मुझे अपनी लीला का ख़याल आया। मैं ठहर गया। जेब से दियासलाई निकाल एक सिगरेट जलाकर मैं रास्ते पर खड़ा रहा। थोड़ी ही देर में एक दश-ग्यारह वर्ष की लड़की बाहर निकली, उसे देख कर मेरी आँखे शीतल हो गईं। समझा, यही लीला है। वह लड़की मकान के अहाते की सीढ़ी पर कोई किताब पढ़ने लगी। उससे कुछ बातें करने का लोभ-संवरण न कर मैं उसके पास जाकर पूछने लगा, "शहर जाने का रास्ता कौन सा है?" लड़की मेरी ओर चकित होकर देखने लगी, फिर बोली, "यही सड़क है। इसी से चले जाओ।" मैंने देखा, वह 'रायल रीडर नम्बर थ्री' पढ़ रही है। लीला अँगरेज़ी पढ़ रही है, यह जान कर मुझे खुशी हुई।

इसके दो साल के बाद मैं फिर बसन्तपुर गया। तब लीला के मकान के सामने बड़ी तैयारी हो रही थी। लोगों की भीड़ सी लगी थी। पूछने से मालूम हुआ कि सतीश बाबू की कन्या का विवाह हो रहा है। एकबार न जाने क्यों कन्या को देखने की मेरी इच्छा हुई। मैं भी दूसरे लोगों के साथ भीतर घुस कर विवाह-मण्डप में जा पहुँचा। वहाँ

जाकर देखा कि मेरी लीला नव-बधू के वेश में बैठी हुई है। वर भी उसी के अनुरूप था। जब दहेज देने का समय आया तब मैंने भी उठ कर एक बाबू से कहा, "मैं कुछ देना चाहता हूँ।" बाबू साहब ने एकबार मेरी ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं, वे मुझे ले गये। मण्डप के भीतर जाकर मैंने ५०) दिये। इसके बाद मैं बाहर निकल आया। बाहर पूछने से मालूम हुआ कि वरका नाम सुशीलकुमार है, वकील हैं, राजनगर में वकालत करते हैं।

दस वर्ष के बाद मुझे राजनगर भी जाने का मौक़ा मिला। मैं लीला की बात बिलकुल भूल गया था। पर बाज़ार में साइन बोर्ड पर सुशीलकुमार का नाम देख कर मुझे लीला का स्मरण आ गया। मैंने अपना मुक़दमा सुशील बाबू ही को देने का निश्चय कर भीतर जाकर उनसे मिला। सुशीलबाबू ने बड़े आदर से मुझे बैठाया। पहले तो मैं उनसे मुक़दमें के विषय में ही बातें करता रहा। कुछ देर के बाद मैंने उनसे कहा, "यदि आप मेरी धृष्ठता क्षमा करें तो मैं आपसे एक बात पूछूँ।"

वकील—पूछिए।

मैं—वह आप की घर की बात है और उसे पूछने का कोई भी अधिकार मुझे नहीं है।

वकील साहब (हँसकर)—ख़ैर, कहिए तो क्या बात है?

मैं—आपकी धर्मपत्नी का नाम लीला है?

वकील साहब का मुख लाल हो गया, फिर बोले, "नहीं।"

मैंने चकित होकर पूछा, "क्या आपका विवाह वसन्तपुर के सतीश बाबू की कन्या के साथ नहीं हुआ है ?

"हाँ, वहीं हुआ है। आप कैसे जानते हैं ?"

"मैं आप के विवाह में उपस्थित था।"

"हाँ ?"

"तब क्या सतीश बाबू की कन्याका नाम लीला नहीं है ?"

"नहीं, पर आप पूछते क्यों हैं ?"

इस 'क्यों' का उत्तर क्या दूँ ? मैं खुद नहीं जानता, मैं क्यों पूछ रहा था। मेरी इस उत्कण्ठा का कोई कारण नहीं था। क्षण भर के बाद मैंने सुशील बाबू से कहा, "आप मेरी असभ्यता का ख़याल न करें। यह कह कर मैंने उनसे अपनी लीला के विषय में सब बातें बतला दीं।

वकील साहब ने हँस कर कहा, "आप भ्रम में पड़ गये। ख़ैर, मैं भीतर पूछ कर आता हूँ।"

थोड़ी देर के बाद वकील साहब लौट आये। मैंने उनकी ओर देखा। उन्होंने कहा, "हाँ, आपका कहना ठीक है, उस मकान में पहले हरिनाथ बाबू रहते थे। उनकी कन्याका नाम लीला था। पर जब वह आठ वर्ष की थी तभी उसकी मृत्यु हो गई। आज चौदह वर्ष हो गये।"

मेरा हृदय 'धक' करके रह गया।

चौदह वर्ष ! और मैं अभी तक लीला को इस जीवलोक में ढूँढ़ रहा था।

(१)

कोई नहीं जानता कि देवबाला कहाँ से किस तरह शम्भूसिंह के यहाँ चली आई है। यह बात केवल शम्भू सिंह के हृदय में छिपी हुई है। जिस तरह कोई दरिद्र मनुष्य अकस्मात् धन पाकर आनन्द से फूल उठता है, उसी तरह शम्भू सिंह भी देवबाला को पाकर अपना सब दुःख भूल गया। जब से देवबाला शम्भूसिंह के यहाँ आई तब से उसका घर सुख-सम्पत्ति से भर गया। उद्यान में तरह तरह के फूल के वृक्ष लगे हुए थे—उसकी सुगन्ध से चारों दिशायें भर जाती थीं। फलों से लदे हुए वृक्ष झुक-झुक कर अनन्त धनपूर्ण माता वसुन्धरा को प्रणाम कर रहे थे। गाँव वाले कहने लगे, शम्भू कितना भाग्यवान् है कि स्वयं देव-कन्या उस के घर को पवित्र करने के लिए स्वर्ग से उतर पड़ी है। उस

दिन से उस कन्या का नाम देवबाला पड़ गया। देवबाला शम्भूसिंह के यहाँ बड़े सुख से रहने लगी।

देवी का मन्दिर गाँव से बहुत दूर नहीं है; सारंग नदी मन्दिर की सीढ़ियों को धोती हुई कल-कल झर-झर शब्द करती हुई बह रही है। देवबाला वहीं बैठी माला गूँथ रही है। साँझ का समय है। सूर्य्य अस्त हो गया है। पश्चिम दिशा में कृष्णगिरि पर्वत गम्भीरता धारण किये खड़ा है। पूर्व दिशा नीले रंग से रँगी जा रही है। खेत से लौटते हुए कृषक युवकों के मधुर गान से सारा वन गूँज रहा है। देवबाला ने पुष्प की माला देवी के गले में पहिना दी और वह हाथ जोड़ कर ध्यान करने लगी। जैसे ही उसका ध्यान टूटा, उसने देखा कि, शम्भूसिंह की पुत्री कुमारी खड़ी-खड़ी हँस रही है।—"देवबाला, किसके ध्यान में मग्न थी? कुमार भैया के?"

"कुमार भैया का क्यों ध्यान करूँगी? क्या वह मेरा ईश्वर है?"

"हाँ, वह तुम्हारे हृदय का देवता है।" कह कर कुमारी हँसने लगी। देवबाला ने गुस्से से कहा—कैसी प्रगल्भा बालिका है! कहीं मनुष्य भी ईश्वर हुए हैं।" देवबाला को क्रोधित देख कर कुमारी चुप रही। कुछ देर बाद वह फिर बोली—"बहिन, गुस्सा न होना। कल तो अपने मामा के घर चली जाओगी। उन्होंने पिता को एक चिट्ठी लिखी है।"

देवबाला ने आश्चर्य से पूछा—"मेरे मामा! कौन?" कुमारीने सब बात संक्षेप में कह सुनाई। देवबाला को स्वप्नमें भी ख़याल नहीं था कि, उसका कोई सम्बन्धी है। वह शम्भूसिंह को ही अपना सब कुछ समझती थी। उसे यह सुनकर विस्मय हुआ। दुःख हुआ और सुख भी हुआ। शम्भूसिंह के यहाँ रह कर वह कुमारसिंह पर प्रेम करने लगी थी। वह प्रेम शुद्ध था। निष्कपट था। वह कई बार कुमार को कटु वचन कह कर दुःखित कर दिया करती थी, परन्तु उसके बाद उसे बहुत ही पश्चात्ताप होता था। हम नहीं कह सकते कि इस संवाद को सुन कर कुमारसिंह को कैसा मालूम हुआ।

(२)

प्रकृति बिल्कुल निस्तब्ध है। इधर-उधर कुछ वृक्ष लगे हुए हैं। दूर में पर्वतमाला दिखाई दे रही है। कुमारसिंह और देवबाला एक गाड़ी पर बैठे चले जा रहे हैं। देवबाला यद्यपि प्रफुल्लित रहने की बहुत चेष्टा करती थी तो भी उसका मुख उदास मालूम पड़ता था। उसके हृदय में तरह-तरह के भाव उत्पन्न हो रहे थे। कुमारसिंह ने उसे चिन्तित देख कर कहा—"बाला, तुम्हारे लगाए हुए लीची के वृक्ष इस साल फलेंगे। सोचा था, मजे से उसके फल खायेंगे। परन्तु अब तुम्हारे बिना उतना आनन्द नहीं आवेगा। देवबाला, तुम्हारे बिना अब हमारा घर प्रभा-हीन हो गया। देखती नहीं

थीं—पिता जी भी कितने उदास थे। बाला, मामा के घर जाकर हम लोगों को भूल तो न जावोगी?" वह चुप रही। कुमारसिंह कितने प्रश्न करता रहा—वह क्या उत्तर दे। देव-बाला संक्षेप में ही "हाँ या नहीं," कह देती थी।

गाड़ी धीरे-धीरे कुछ पर्वत के पास पहुँचने लगी। आकाश बादल से छागया। बिजली चमकने लगी। बादल गरजने लगा। गर्जना के साथ-साथ एक भयङ्कर शब्द हुआ। उसे सुन कर वीर राजपूत कुमारसिंह का भी हृदय एक बार काँप गया। फिर बिजली चमकी। दोनों ने देखा १०० गज की दूरी पर एक बाघ खड़ा हुआ है। देवबाला काँपने लगी। कुमारसिंह ने उसे आश्वासन देते हुए कहा—अब तो जान पड़ता है, मृत्यु सामने ही आ गई है। परन्तु तुम भय न करो। देखूँ कहीं अब भी तुम्हारी रक्षा हो सके। तुम इसी गाड़ी में बैठी रहो। मैं उस बाघ के पास जाता हूँ। भूखा बाघ मुझे पाकर तृप्त हो जायगा। इसी सीधे रास्ते से तुम मामा के घर पहुँच सकती हो। यदि उस समय बाला के ऊपर वज्र-पात भी हो जाता तो उसे इतनी व्याकुलता नहीं होती जितनी कि उसको कुमार की बातें सुनकर हुई। वह ज़ोर-ज़ोर से रोने लगी—"नहीं, कुमार, नहीं, मैं तुम्हें न जाने दूँगी—तुम यहीं रहो।" "छि: कहीं राजपूत बालिका भी इस तरह रोती है।" यह कह कर कुमार ने अपना हाथ छुड़ा लिया और उस गाड़ी से कूद कर बाघ की तरफ़ दौड़ा। देवबाला पत्थर की

मूर्त्ति की तरह बैठी रही। फिर बिजली चमकी। कैसा अद्भुत दृश्य था। बाघ ने एक क्षण उस अनायास आहार की ओर देखा—फिर एक गर्जना के साथ उसके ऊपर उछला। देवबाला मूर्च्छित होकर गिर पड़ी।

(३)

दीपशिखा के स्निग्ध प्रकाश से देवी का मन्दिर प्रकाशमान है। देवबाला ने एक बार करुण दृष्टि से देवी की मूर्त्ति की ओर देखा, फिर हाथ जोड़ कर कहा—"हे माता, मैं कैसी अभागिनी हूँ। जब प्रेम अंकुरित हो गया है तब उसे समूल कैसे नष्ट कर दूँ। जिसकी प्रतिमा को मैं अपने हृदयके उच्चासन पर बैठा कर पूज रही हूँ, वह इतनी जल्दी उस स्थान से कैसे वंचित की जा सकती है। हे माता, क्या तेरी यही इच्छा थी कि मैं कुशलपूर्वक मामा के घर पहुँच जाऊँ और ··· और··· कुमार—। उस अन्धेरी रात को बीते तीन वर्ष बीत गये तो भी उसकी स्मृति ज्यों की त्यों जमी हुई है। यदि वह मिट गई होती तो भले ही मैं यादवसिंह की इच्छा के अनुकूल ···। नहीं···नहीं···अब···हाँ···अब मैं सुख के गृह में भी सुखी नहीं रह सकती। हे माता—अब मुझ में वह शक्ति दीजिये जिससे मैं पाप की ओर प्रवृत्त न होऊँ।"

उसी समय एक युवक सैनिक के वेश में वहाँ आकर देव-बाला के पास खड़ा हो गया। देवबाला उसको देख कर

सकुच गई। सैनिक ने कहा, "देवबाला! मैं बिदा माँगने आया हूँ। यवनों ने इस किले को लूटने की आकांक्षा से घेर लिया है। मैं उन लोगों से लड़ने जा रहा हूँ। राजपूत मृत्यु से नहीं डरता, परन्तु तो भी न मालूम मेरे मन में कैसी भावना उठ रही है। आज भय मालूम हो रहा है। तुम्हारे प्रति मेरा जो प्रेम है वह कभी भी कम नहीं हो सकता। तुम्हारे मामा की भी इच्छा थी कि हम दोनों चिरकाल तक एक ही प्रेमसूत्र से बँधे रहें। परन्तु—वह—तुम कहती हो सम्भव नहीं है। जो कुछ हो—आज मुझे प्रेमपूर्वक बिदा दो। ये शब्द रात्रि की निस्तब्धता में लीन हो गये, परन्तु देववालाके कानोंमें तब भी गूँजते रहे। वह चुपचाप खड़ी रही। "बोलो, समय बीता जा रहा है।" देवबालाने धीरे से कहा—"यादव सिंह, मैं तुम्हें प्रेमपूर्वक बिदा देती हूँ—जाओ, यवनों को पद-दलित कर विजयी वीर की तरह शीघ्र लौटो।" यह पहला ही समय था कि देवबाला ने यादवसिंह को इतनी कोमलता भरी बात कही थी।

(४)

रण-क्षेत्र के एक कोने में आहत यादवसिंह का सिर एक सैनिक की गोदी में रक्खा हुआ है। यादवसिंह कुछ देर तक संज्ञा-शून्य पड़ा रहा। उसने फिर धीरे से आँख खोली। कहा —"भैया, तुम कौन हो, तुम्हारे आँखों में यह ज्योति कैसी?

तुम्हारे ज़िरह बख़्तर में यह प्रकाश कैसा ? तुमने मेरी आज जान बचाई, वह किस लिए ? मुझे ऐसा जान पड़ता है कि कई वर्षों से हम दोनों एक ही प्रेमपाश से बँधे हुए थे। तुमने आज बड़ी वीरता से इस क़िले को बचाया है।" सैनिक ने कहा, "भैया, आज मैंने कौन सा बड़ा काम किया है जिसके लिये यह बड़ाई ! कहो, अब पीडा कैसी है ?"

(५)

देवी की मूर्त्ति फूलों से सुसज्जित थी। सैंकड़ों दीपावली से वहाँ दिन के समान प्रकाश हो रहा था। यादवसिंह ने नये सैनिक से कहा, "देवबाला आ रही है।" कुछ देर के बाद आभूषणों की मधुर झंकार के साथ पद-शब्द सुनाई दिये। नये सैनिक के शरीर में बिजली दौड़ गई। उसने अपने सामने देवबाला को देखा। कैसा दृश्य था ! यादवसिंह ने कहा— "बाला आज विजय दिवस है, आज इस सैनिक ने हमलोगों को आपत्ति से बचाया, परन्तु तुम्हारे मुख पर कोई सुख का चिह्न नहीं देखता। आज इस मन्दिर में इतना प्रकाश है, परन्तु तुम्हारे मुख पर मलिनताकी छाया देख पड़ती है। आज हमारे महाराज इस सैनिक को विजयमाला से विभूषित करेंगे—।" देवबाला पत्थर की मूर्त्ति की तरह एकटक देख रही थी। अचानक वह बोल उठी—"कुमार…क्या यह स्वप्न है ?" उस सैनिक ने कहा—"नहीं बाला—यह स्वप्न नहीं

है—परन्तु यह अद्भुत दृश्य है । मैं मरा नहीं हूँ, जैसा कि तुम सोच रही थी । कुञ्ज महाराज की रुधिर प्यासी तीर ने ही मुझे उस दिन नवजीवन दिया । आज उसी के कारण मुझे यह अवसर देखने पड़े ।" देवबाला ने कहा—"कुमार—आज मुझे मालूम हो गया तुम सत्यही बड़े वीर शिरोमणि हो । महाराजके पहलेही मैं तुम्हें विजयमाला पहनाती हूँ ।"

यह कह कर उसने तीन वर्ष पहले कुमारसिंह को हाथ की बनाई हुई माला उसके गले में पहना दी । वह सूखी माला प्रेम से आर्द्र थी, सदा देवबाला के हृदय के पास रहने से उसमें कोमलता थी—सुगन्ध भी था ।

यादवसिंहने मनमें कहा, "क्या सचमुच यह दृश्य स्वप्न का ही है ?"

मातृ-प्रेम।

रविनाथ कालेज में "फ़िलासफ़र" के नाम से प्रसिद्ध थे। हम नहीं कह सकते कि उनका ऐसा नाम क्यों पड़ा, परन्तु यह सच है कि उनके स्वभाव में अवश्य कुछ विचित्रता थी।

उस दिन अर्थ-शास्त्र के अध्यापक नहीं आये। हम लोग क्लास से बाहर निकल कर इधर-उधर घूमने लगे। कालेजके सामने ही एक छोटासा उद्यान था। रविनाथ वहीं एक पत्थर पर बैठे, चिन्ता में मग्न थे। हमारे मित्रों ने कहा—"चलो रवि के पास बैठें। उनसे बातें करने में बड़ा आनन्द आता है।"

हम लोग सब उन्हें घेर कर बैठ गये। हमारे एक मित्र ने दिल्लगी में कहा, "प्रेम एक अमूल्य रत्न है। चाहे संसार चला जाय, पर वह रत्न न खो जाय। पत्नी प्रेम की पात्री है, चाहे मा-बाप से जन्म भरके लिए विछोह हो जाय, परन्तु पत्नी कभी न त्यागी जाय। रविनाथ ने गम्भीर होकर कहा—यह कहाँ का नियम है? माता का प्रेम अगाध, असीम और अनन्त

होता है। इन्द्रिय-लोलुप पुत्रोंकी दृष्टिमें वह भले ही काले मेघकी तरह कलङ्क युक्त दिखाई दे, परन्तु जब उससे प्रेम की अविरल धारा निकलती है तो जीर्ण-शीर्ण हृदय सूखे खेत की तरह हरा-भरा हो जाता है। सन्तप्त हृदय में अमृत की वर्षा हो जाती है। माता का उदार हृदय इस विस्तृत गगन से भी उच्च है सारे पाप से कलुषित होकर भी यदि पुत्र फिर माँ के पास आता है तो वह उसे एक निर्बोध बालक की तरह हृदय से लगा लेती है। सुनो, मैं एक कथा कहता हूँ—

"माता पुत्र के भाग्य पर आँसू बहाती रही। जन्माष्टमी का दिन आया। माता का शोक समुद्र उमड़ आया। उसने अपने बूढ़े पड़ोसी शालिग्राम को बुला कर कहा—"बाबा, मेरे पुत्र की सुधि लो—एक बार, सिर्फ एकबार,—उसे—अपने प्यारे मुकुट को—देखना चाहती हूँ। नहीं कह सकती मैं कब इस संसार से चल बसूँ।"

"शालिग्राम बोला—"श्यामा, अब मुकुट यहाँ कैसे आवेगा? शहर के आमोद-प्रमोद के बीच रह कर वह हम सब को भूल गया है। सुनता हूँ, वह वहाँ उच्छृङ्खल हो गया है, सारे दुर्गुणों का उपासक बन गया है। मुकुट रविनाथ के सारे परिश्रम की कमाई व्यभिचार में खर्च कर रहा है।

"श्यामा उदास होकर बोली—क्या सच कहते हो? बाबा! मुझे इस पर विश्वास नहीं होता। मेरा मुकुट कैसे ऐसा अव-गुणी हो गया? जब वह एक टिमटिमाते हुए दीपकके सामने

बैठ कर अँगरेज़ी का पाठ याद किया करता था, तब प्रेम-भरी दृष्टि से उसके मुखकी ओर देखती हुई मैं न जाने किस स्वर्गीय सुख की कल्पना किया करती थी। अँगरेज़ी शिक्षा पाने के लिए जब वह शहर के लिए रवाना हो रहा था, अब भी मुझे स्मरण है। बाबा, मेरे गले से लिपट एक बालक की तरह माँ-माँ कह कर वह रोने लगा था। मैं बड़े कष्ट से आँसू थाम सकी। मन में कहा—यह शुभ दिन है, आँसू नहीं गिराना चाहिए। इसके बाद वह सिर्फ एक समय यहाँ आया। फिर बार-बार बुलाने पर भी नहीं आ सका। बाबा, तुम स्वयं जाकर उसे बुला लाओ। रतिनाथ बाबूके यहाँ वह सुख से रहे। मेरी सिर्फ़ यही इच्छा है—एक बार आकर पहले की तरह 'माँ' कहकर पुकार ले।"

"जब हृदय दुर्बल होता है तब सैकड़ों दुर्गुणों को उसमें सरलता पूर्वक स्थान मिल जाता है। मुकुट शहर में आतेही कुसङ्गति में पड़ गया। रतिनाथ के घर में आनन्द की साम-ग्रियाँ देख कर उसकी पाशविक वृत्तियाँ उत्तेजित हो उठीं। वह अनुमान भी नहीं कर सका कि माँ उसके लिए तड़पती होगी। उसका दिन आनन्द में यों ही बीता जाता था—श्यामा का दिन मानो पर्वत की तरह अचल पड़ा रहता था।

"तुम सब आज आनन्द से इधर-उधर घूम रहे हो, मज़ा कर रहे हो—क्या तुम्हें स्मरण आता है कि तुम्हारी शुभकामना के हेतु अभी भी कितने हृदय धड़क रहे हैं?

"श्यामा का भी हृदय धड़कता रहा—धड़कता रहा, एक दिन उसकी गति बन्द हो गई। अँधेरी रात्रि थी। आकाश में तारे अश्रुबिन्दु की तरह चमक रहे थे। शालिग्राम व्यर्थ की शुश्रूषा में लगा हुआ था। श्यामा चिल्ला उठी—"बाबा, बाबा, मेरी आँखें धुँधली हो गईं। यदि अब मेरा प्यारा मुकुट आवेगा तो उसे कैसे देख सकूँगी—मेरे हाथ पत्थर की तरह शक्ति-हीन हो रहे हैं? मैं अपने प्यारे मुकुट को उठा कर हृदय से कैसे लगा सकूँगी?"

खोटी चवन्नी।

(१)

बुढ़िया लकड़ी टेकते-टेकते मेरे कमरे में आई और बोली—"बेटा, आज बहुत दिनोंके बाद यह मिठाई बनाई है। अकेली तो खा नहीं सकती। कुछ तेरे लिए भी लाई हूँ। देख भला कैसी बनी है।"

बुढ़िया के मैले कपड़े तथा हाथ-पैर की सूरत देख कर खाने की इच्छा तो न हुई—परन्तु वह बड़े प्रेमके साथ मिठाई लाई थी, एकदम नाहीं भी कैसे कर सकता था। बड़े असमंजस में पड़ा। मैंने उसे हाथ में लेलिया। बुढ़िया कहती गई—बेटा, एक दिन मेरा भी घर बाल-बच्चों से भरा था—दो तीन लड़के रोज़ बच्चू के साथ खेलते-खेलते आ जाते थे। बिना उन सबको खिलाये मेरा मन न मानता--मैं भोजन न करती। परन्तु अब क्या करूँ—विधि की करनी······।

मैंने समझा—गये साल इनफ्ल्यूएञ्जा का बड़ा दौर-दौरा था—उससे कई घर उजड़ गये—कई कुटुम्ब नष्ट हुए। शायद

बुढ़िया के भी सुखस्वप्न उसी के शिकार हो गये। मैं बोला—"क्या इनफ्लूएञ्ज़ा से......"

बीचही में बुढ़िया बोल उठी—"नहीं बेटा, तू क्या जाने—।"

मैं बात ही बात में बुढ़िया को टाल देना चाहता था, जिससे वह मिठाई मुझे न खानी पड़े, सवेरे नौकर उठा ले जाता। परन्तु बुढ़िया यह बात कब मानने वाली थी। जब मैं यह सब सोच रहा था वह बोल उठी—'ज़रा इस ग़रीबिन की भी बनाई चीज़ तो खा देख बेटा! धनवान् लड़कों को क्या......।

एक टुकड़ा मुँह में डाल कर मैं बोला—"ऐसी बात न कहो, बड़ी माँ। ऐसी बढ़िया चीज़ हमारे यहाँ ......।"

सूखी हँसी हँस कर बुढ़िया बोली—"दिल्लगी तो न कर, बेटा!"

बुढ़िया को लोग बड़ी माँ कह कर पुकारा करते हैं। वह नमक और मिट्टी का तेल बेचा करती है। मुझे उससे इतनी पहिचान हो गई, इसका कारण है। एक दिन फलवाला मुझे एक खोटी चवन्नी दे गया। जब तक चाँदी की दुवन्नी, चवन्नी आदि बना करती थीं तब तक ठग लोग उनकी सुघड़ बनावट तथा चाँदी की क़ीमत के कारण बहुत कम नक़ल करते थे। परन्तु निकल की चवन्नी, अठन्नी आदि को देख कर उनके मुँह में पानी आ गया। राँगे की चवन्नी-अठन्नी बाज़ार में दर्शन देने लगीं। उस दिन भी एक राँगे की चवन्नी मेरे हाथ लगी। सोचने लगी—इसे कहाँ चलाऊँ। इसे कौन लेगा। अन्त में

यही निश्चय किया, बड़ी माँ से कुछ सौदा लेकर यह खोटी चवन्नी उसे देदें। वह क्या पहिचान सकेगी। हाथ में लालटेन लेकर मिट्टीका तेल ख़रीदने कभी भी बाज़ार नहीं गया था। उस दिन चार आने के लोभ से बुढ़िया के यहाँ तेल ख़रीदने चला गया! चवन्नी तो किसी तरह चलादी गई; परन्तु दिल नहीं माना। मनमें कहा—यह अन्याय हुआ। बड़ी माँ का चारआने का नुक़सान किया। न सब मेरे ही से आँख रहते अंधे हैं और न बुढ़िया की तरह बे-अक़ल। वह उस चवन्नी को किसके मत्थे मढ़ेगी?

रात भर अच्छी तरह नींद नहीं आयी, सुबह होते ही मैं चार आना पैसा लेकर उसके घर जा पहुँचा। उससे कहा—"बडी माँ, कल हमने जो चवन्नी दी—वह खोटी है, देख तो भला। मुझसे बड़ी भूल हुई।"

बुढ़िया नम्रता से बोली—"तो इसमें बात ही क्या है बेटा—और दूसरा कोई नहीं लेता तो तुम्हें ही दे देती। क्या तुम वह चवन्नी नहीं लेते? इतनी जल्दी क्या पड़ी थी। मैं झेंप सा गया।

उसने चवन्नी न मालूम कहाँ रखदी थी। मैं चुपचाप उसके टूटे-फूटे संदूक में चार आना पैसा डाल कर भाग आया तब से उससे पहिचान हो गई। कभी-कभी दो चार बातें कर लेता था।

बडी माँकी मिठाई सचमुच बडी स्वादिष्ट थी। मैं खाकर

बुढ़िया के भी सुखस्वप्न उसी के शिकार हो गये। मैं बोला—"क्या इनफ्ल्यूएञ्जा से......"

बीचही में बुढ़िया बोल उठी—"नहीं बेटा, तू क्या जाने—।"

मैं बात ही बात में बुढ़िया को टाल देना चाहता था, जिससे वह मिठाई मुझे न खानी पड़े, सवेरे नौकर उठा ले जाता। परन्तु बुढ़िया यह बात कब माननें वाली थी। जब मैं यह सब सोच रहा था वह बोल उठी—'ज़रा इस ग़रीबिन की भी बनाई चीज़ तो खा देख बेटा! धनवान् लड़कों को क्या......।

एक टुकड़ा मुँह में डाल कर मैं बोला—"ऐसी बात न कहो, बड़ी माँ। ऐसी बढ़िया चीज़ हमारे यहाँ ......।"

सूखी हँसी हँस कर बुढ़िया बोली—"दिल्लगी तो न कर, बेटा!"

बुढ़िया को लोग बड़ी माँ कह कर पुकारा करते हैं। वह नमक और मिट्टी का तेल बेचा करती है। मुझे उससे इतनी पहिचान हो गई, इसका कारण है। एक दिन फलवाला मुझे एक खोटी चवन्नी दे गया। जब तक चाँदी की दुवन्नी, चवन्नी आदि बना करती थीं तब तक ठग लोग उनकी सुघड़ बनावट तथा चाँदी की क़ीमत के कारण बहुत कम नक़ल करते थे। परन्तु निकल की चवन्नी, अठन्नी आदि को देख कर उनके मुँह में पानी आ गया। राँगे की चवन्नी-अठन्नी बाज़ार में दर्शन देने लगीं। उस दिन भी एक राँगे की चवन्नी मेरे हाथ लगी। सोचने लगी—इसे कहाँ चलाऊँ। इसे कौन लेगा। अन्त में

यही निश्चय किया, बड़ी माँ से कुछ सौदा लेकर यह खोटी चवन्नी उसे देदें। वह क्या पहिचान सकेगी। हाथ में लालटेन लेकर मिट्टीका तेल ख़रीदने कभी भी बाज़ार नहीं गया था। उस दिन चार आने के लोभ से बुढ़िया के यहाँ तेल ख़रीदने चला गया! चवन्नी तो किसी तरह चलादी गई; परन्तु दिल नहीं माना। मनमें कहा—यह अन्याय हुआ। बड़ी माँ का चारआने का नुक़सान किया। न सब मेरे ही से आँख रहते अंधे हैं और न बुढ़िया की तरह बे-अक़ल। वह उस चवन्नी को किसके मत्थे मढ़ेगी?

रात भर अच्छी तरह नींद नहीं आयी, सुबह होते ही मैं चार आना पैसा लेकर उसके घर जा पहुँचा। उससे कहा—"बडी माँ, कल हमने जो चवन्नी दी—वह खोटी है, देख तो भला। मुझसे बड़ी भूल हुई।"

बुढ़िया नम्रता से बोली—"तो इसमें बात ही क्या है बेटा—और दूसरा कोई नहीं लेता तो तुम्हें ही दे देती। क्या तुम वह चवन्नी नहीं लेते? इतनी जल्दी क्या पड़ी थी। मैं झेंप सा गया।

उसने चवन्नी न मालूम कहाँ रखदी थी। मैं चुपचाप उसके टूटे-फूटे संदूक में चार आना पैसा डाल कर भाग आया तब से उससे पहिचान हो गई। कभी-कभी दो चार बातें कर लेता था।

बडी माँकी मिठाई सचमुच बडी स्वादिष्ट थी। मैं खाकर

हाथ धोने लगा, वह कहने लगी—"इतने दिनों के बाद आज मुझे फिर वही सुख हुआ। छोटा सा बच्चा नहीं था तो भी हाथ से खिलाया करती थी।"

दूसरे दिन लाजिक के प्रोफ़ेसर परीक्षा लेनेवाले थे। मैं Logic पढ़ रहा था। उस बुढ़िया का आना मुझे बड़ा अखरा। तो भी कैसे कह दूँ 'चली जा।' वह क्या जाने कि आलसी और सबक़ में पिछड़े हुए लड़कों के लिए परीक्षा के अन्तिम दिवस का हर एक सेकेण्ड बहुमूल्य होता है।

वह कहती गई—"इनफ़ूनजा, उनफ़ूनजा कुछ नहीं बेटा, मेरे भाग्य ने ही मेरा सब सुख लूट लिया।"

मैंने मन में कहा; यह कौन नई बात है। भाग्य ही तो सब कुछ कर सकता है।

क्या कहूँ। नरोत्तम बाबू के यहाँ........।

मैंने इस बार उत्सुकता के साथ पूछा—"कौन नरोत्तम बाबू?"

उत्तर मिला—"वही दीनदयाल बाबू के लड़के। वकालत पास किये हैं। भगवान् उनको कुशल बनाये रक्खें। उनका कोई दोष नहीं है। यह सब ......।"

मैंने लाजिक की किताब टेबिल पर रख दी और पूछा—तो क्या कहती थी—नरोत्तम बाबू के यहाँ—रुक क्यों गई?"

"अच्छा बेटा, सब सुनना चाहता है तो सुन।" यह कह कर वह वहीं बैठ गई और कहने लगी—

(२)

"नरोत्तम बाबू के यहाँ मैं रहती थी। मैं कब विधवा हुई इसका मुझे स्मरण नहीं। मुझे तो ऐसा जान पड़ता है कि विधवा के रूप में ही ईश्वर ने मुझे पैदा किया था। नरोत्तम का कोई देखनेवाला नहीं था। उसके एक चाचा था और मैं थी—उसकी जन्म की विधवा मौसी। उसके चाचा की बड़ी इच्छा थी कि वे काशी-वास करें परन्तु उनकी मन की लालसा मन ही में रही और वे स्वर्गलोक को सिधार गये। मैं अकेली नरोत्तम की देख-रेख करने लगी। नरोत्तम वकालत पढ़ने लगा। उसका ब्याह तब हो गया था। दो एक बार, महीना पन्द्रह दिन के लिए बहू घर भी आई थी। धनवान् की लड़की थी। अंगरेज़ी बहुत पढ़ी-लिखी थी।

वकालत पास कर नरोत्तम ने वकालत करना शुरू कर दिया। बहू को भी लिवा लाया। बेटा, मैं अपने बाप-दादा के समय को देखती आई थी। उन दिनों और आजकल में बड़ा अन्तर है। मुझे बहूका पहिनावा चाल-ढाल एक न भाता था। लोग कहते ही हैं कि बुढ़ापे में बुद्धि सठिया जाती है। मैं बहू को कुछ सुनाये बिना न रह सकती थी। वह कब मेरी सुनने वाली थी। मैं उसकी आँख का काँटा बन बैठी। उसकी यही इच्छा रहती कि मैं किसी तरह कहीं भेज दी जाऊँ।

एक दिन बहू अभिमान से मुँह फुला कर बैठ गई। नरो-

त्तम ने हँसते हुए कहा—"देखो, इस तरह से थोड़ी-थोडी बात पर रूठना स्त्रियों को शोभा नहीं देता। रूठना बच्चों के लिए है जो कुछ तुम्हारा अपराध है उसे चुपचाप स्वीकार क्यों नहीं कर लेती।

'मुझसे इस घर में रहा नहीं जाता।'

'उसे किस तरह यहाँ से निकाल दें। इतने दिनों तक यहाँ रही। वक्त पर काम आई। माँ की तरह प्यार करती रही।'—सुन कर मैं तो पिघल गई।

बेटा, तेरा व्याह हुआ है ही नहीं। तू जानता नहीं कि स्त्री का मोह कितना बड़ा होता है। स्त्री के आँसू से बज्र भी पानी हो कर वह जा सकता है, फिर तो नरोत्तम का हृदय एक छोटी सी कोमल वस्तु ही था।

एक दिन बहू स्लीपर पहिने चौके के भीतर किसी काम से चली आई। मैं नरोत्तम का बल पागई थी—उसे बहुत कुछ कहा। तो वह ठीक ही बात थीं, परन्तु बहू ने मानो उस दिन से प्रण कर लिया कि मेरे गये बिना वह सुख की नींद नहीं सोवेगी।

मैंने मन में सोचा—नरोत्तम मुझे कुछ नहीं कहता और बहू मेरे कारण चिन्ता करती रहती है। इस लिए यही अच्छा है, कि मैं स्वयं क्यों न कहीं चला जाऊँ, इस छोटे से परिवार को क्यों न फूलने-फलने दूँ। एक दिन मैं चुपचाप उठी और चली गई।

पास में कुछ रुपये थे। उसी के सहारे मैं कई तीर्थस्थान घूम आयी। कभी उपवास करती, कभी भीख माँग लेती। धनी-मानी कुछ न कुछ देही देते थे। मैं नरोत्तम की बराबर खबर लिया करती थी। परन्तु एक-डेढ़ साल से कुछ पता नहीं, वह कहाँ है। सुना, वह कहीं दूसरी जगह वकालत करने चला गया है। आठ, दस महीने से मैं यहाँ नोन-तेल बेचने लगी। दुःख से, सुख से, किसी तरह दिन कटही जाते हैं। अन्तिम दिन की प्रतीक्षा में बैठी हूँ। इच्छा थी, नरोत्तम के ही आँख नीचे प्राण त्यागती...... ।

एक निःश्वास त्याग कर बुढ़िया चुप हो गई। मैं कुर्सी से कूद कर बुढ़िया के पैर से चिपक गया। कहा—"बड़ी माँ! मैं उसी नरोत्तम का एक फुफेरा भाई हूँ। उन्होंने मुझे साथ में बुला लिया है। भैया तुम्हारे चले जाने पर बराबर पश्चात्ताप करते रहे। कई जगह खोज में गये भी! भाभी के हृदय में भी बड़ा चोट पहुँची है। वे समझती हैं उन्होंने पाप किया है। दिन भर वे अस्वस्थ रहती हैं। भैय्या ने तुम्हें गँवाँ दिया था तो मैंने तुम्हें आज फिर पा लिया है। चलो—घर के भीतर चलो। भैया भी वहीं हैं।

जब बड़ी माँ की दूकान की सब चीजें नीलाम कर दी गई तब उसमें वही खोटी चवन्नी भी पाई गई। मैंने बनावटी हँसी मुँह में लाकर बड़ी माँ से कहा—"देख तो, यह वही खोटी चवन्नी है!"

वह भी हँसती हुई बोली—"उसे मुझे दे दे बेटा, वह मेरे लिए अमूल्य है। जिस दिन तेरी बहू आयेगी तब यही चवन्नी भेंट में दी जायगी।"

अँगरेज़ी

अनुवाद शिक्षक।